श्री तत्त्वार्थाधिगम् सूत्रम्

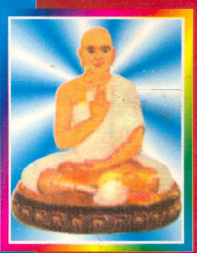

श्री उमास्वातिजी

श्री तत्त्वार्थाधिगम सूत्रम्

तस्योपरी

सुबोधिका टीका तथा हिन्दी विवेचनामृतम्

(भाग : 9-10)

कर्त्ता

आचार्य विजय सुशील सूरीश्वरजी म.

卐 ॐ ह्रीँ श्रीँ अर्हं नमः 卐

वाचकप्रवर श्री उमास्वातिजी म. विरचित

श्री तत्वार्थाधिगम सूत्रम्

(नवम-दशम अध्यायः)

रचयिता

प्रतिष्ठा शिरोमणि-गच्छाधिपति-जन-जन के श्रद्धा केन्द्र
प.पू. आचार्य भगवंत
श्रीमद् विजय सुशील सूरीश्वरजी म.सा.

संपादक

श्री सुशील गुरुकृपा प्राप्त प्रतिष्ठाचार्य
प.पू. आचार्य देव
श्रीमद् विजय जिनोत्तम सूरीश्वरजी म.सा.

卐 卐

प्रकाशन सहयोग

श्री पिण्डवाड़ा जैन संघ समस्त
शेठ कल्याणजी सौभागचन्दजी पेढी, पिण्डवाड़ा, सिरोही, राजस्थान
श्री सुपार्श्वनाथ जैन श्वेताम्बर मूर्तिपूजक संघ
दावणगेरे (कर्नाटक)

❖ पुस्तक : श्री तत्त्वार्थाधिगम सूत्रम्

❖ प्रेरक : पू. मुनिराज श्री रत्नशेखर विजयजी म.
पू. मुनिराज श्री रविचन्द्र विजयजी म.
पू. मुनिराज श्री हेमरत्न विजयजी म.
पू. मुनिराज श्री जिनरत्न विजयजी म.

❖ प्रतियाँ : 500 ❖ मूल्य - सदुपयोग

❖ प्रथम आवृत्ति : श्री वीर सं.2534, श्री विक्रम सं. 2064
श्री नेमि सं.59 श्री लावण्य सं. 46

प्राप्ति स्थान

1 **श्री अष्टापद जैन तीर्थ**
सुशील विहार, वरकाणा रोड, पो. रानी, जि.पाली-306 115 (राज.)
☎ : (02934) 222715 • Fax : 02934-223454

2 श्री संभवनाथ जैन श्वेताम्बर मूर्तिपूजक संघ विजयवाड़ा द्वारा अनुमोदित
श्री अरिहंत धाम जैन श्वेताम्बर ट्रस्ट, विजयवाड़ा
C/o. Sri Sambhavanath Jain Swetamber Murti Pujak Sangh
Jain Temple Street, Apo. : Vijaywada-520 001 (A.P.) Tel. : (0866) 2425521

3 **श्री जैन शासन सेवा ट्रस्ट**
C/o. SHAH DEVRAJ JI JAIN
125, Mahaveer Nagar, PALI-306 401 (Rajasthan)
☎ : Off & Fax : (02932) 231667, Resi. 230146, Mobile : 94141-19667

4 **श्री सुशील-साहित्य प्रकाशन समिति**
C/o. संघवी श्री गुणदयालचंदजी भंडारी
राइका बाग, पुरानी पुलिस लाईन, पो.जोधपुर-342 006 (राज.)
☎ : (0291) 2511829, 2510621, Fax : 2511674

5 **श्री सुशील गुरु भक्त मंडल, मुम्बई**
C/o. SHAH JUGRAJJI DANMALJI SHRISHRIMAL
C/o. S.K. & Co. 51/53, New Hanuman Lane,
Maru Bhawan, Mumbai-400 002 (M.H.)
Ph. : 022 (O) 22015157, (R) 23712546, Mob. : 9323312546

समर्पण

वन्दन है अभिनन्दन प्रतिपल, जिनवर! गुरुवर! कृपानिधान।
बलिहारी गुरुचरण-शरण का, जिनपथ-दर्शक-ज्योति महान॥
उपकृत है तन, मन, विद्या-धन, संयम की चादर सुकुमार।
'गुरु सुशील' की परम कृपा से, उनको अर्पित यह उपहार॥

आस्था के आयाम
गुणों के निधान
कवित्व के अजस्रोत
ज्ञान गुण ओत-प्रोत

जैन संघ के गौरव
तपागच्छा के वैभव
श्री नेमि समुदाय की सौरभ
अद्भुत वात्सल्य-अविचल श्रद्धा
अणि शुद्ध चारित्र के धनी

परमोपकारी-भवोदधितारक-परमकृपालु
मेरी जीवन नैया के सुकानी
परम पूज्य गुरुदेव आचार्य भगवंत
श्रीमद् विजय सुशील सूरीश्वरजी म.सा.
के कर-कमलों में सविनय सादर समर्पित...

विजय जिनोत्तम सूरि.

कृपा छत्र मुझ पर सदा, रखना दीन दयाल।
यही जिनोत्तम भावना, रखना पूर्ण कृपाल॥

सद्गुरु वन्दना

✣ शासन के सम्राट अलौकिक,
दिव्य गुणों के अनुपम धाम।
तीर्थोद्धार धुरंधर गुरुवर,
नेमि सूरीश्वर तुम्हें प्रणाम॥

✣ साहित्य सुधा सम्राट् सुपावन,
काव्य कला मन्दिर अभिराम।
अग जग में जगमग है गुरुवर,
लावण्य सूरीश्वर तुम्हें प्रणाम॥

✣ संयम के सम्राट् कलाधर,
गुणगरिमा युक्त सार्थक नाम।
अमल कमल से शोभित गुरुवर,
दक्ष सूरीश्वर तुम्हें प्रणाम॥

✣ जैनधर्म के दिव्य दिवाकर,
सरस्वती के पावन धाम।
कवि भूषण तीर्थ प्रभावक,
सुशील सूरीश्वर तुम्हें प्रणाम॥

✣ प्रतिष्ठा शिरोमणि धर्म रक्षक,
साहित्य के सर्जक महा।
आचार्य विजय सुशील सूरीश्वर महाराज अहा॥

✣ गुरु नेमि की तेजस्विता,
लावण्य दक्ष-सुदक्षता।
साहित्य में लसती,
जिनोत्तम भक्ति धारा स्वच्छता॥

❋❋❋

शासन सम्राट्

प.पू. आचार्य महाराजाधिराज
श्रीमद् विजय नेमि सूरीश्वरजी म.सा.

साहित्य सम्राट्

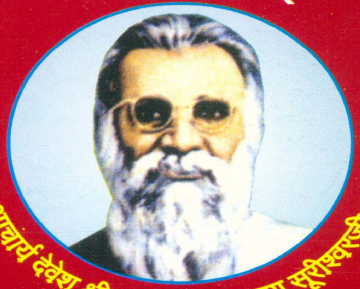

प.पू. आचार्य देवेश श्रीमद् विजय लावण्य सूरीश्वरजी म.सा.

संयम सम्राट्

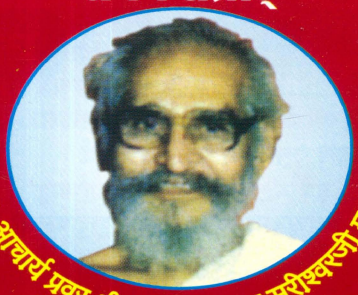

प.पू. आचार्य प्रवर श्रीमद् विजय दक्ष सूरीश्वरजी म.सा.

प्रतिष्ठा शिरोमणि गच्छाधिपति

प.पू. आचार्य भगवंत श्रीमद् विजय सुशील सूरीश्वरजी म.सा.

श्री सुशील गुरुकृपा प्राप्त-प्रतिष्ठाचार्य

प.पू. आचार्य देव श्रीमद् विजय जिनोत्तम सूरीश्वरजी म.सा.

पूज्य श्री सुशील गुरुदेव
की प्रेरणा से
निर्मित तीर्थ...
भारत भूषण...
राजस्थान शणगार...
गोड़वाड़ गौरव...

श्री अष्टापद जैन तीर्थ

सुशील विहार, वरकाणा रोड, पो. रानी, जि.पाली (राज.)

ढाई क्रोड से
भी अधिक
श्री नमस्कार
महामंत्र के
आराधक

स्व. पू. मुनि श्री अरिहंत विजय जी म.सा.
की पावन स्मृति में निर्मित तीर्थ

श्री अरिहंत धाम

विजयवाड़ा - हैदराबाद हाइवे रोड, गुन्टुपल्ली

मातृहृदया पू. साध्वी श्री दिव्यप्रभाश्री जी म.
के श्री वर्धमान तप की 100 ओली
आराधना के अनुमोदनार्थ निर्माणाधीन

श्री शंखेश्वर विहार - सुशील वाटिका

(पाली-सुमेरपुर नेशनल हाइवे रोड नं. 14)

प्रतिष्ठा शिरोमणि प.पू. आचार्य भगवंत श्रीमद् विजय सुशील
सूरीश्वरजी म.सा. की अंतिम संस्कार भूमि की पावन धरा पर
निर्माणाधीन श्रीमती प्यारीबाई चुन्नीलालजी सुराणा
चेरीटेबल ट्रस्ट द्वारा संचालित

श्री पार्श्व - सुशील धाम

सुराणा नगर, अतिबेले, होसुर रोड,
बैंगलोर (कर्नाटक)

तीर्थ प्रेरक-मार्गदर्शन-शुभनिश्रा
श्री सुशील गुरुकृपा प्राप्त-प्रतिष्ठाचार्य
प.पू. आचार्यदेव
श्रीमद् विजय जिनोत्तम सूरीश्वरजी म.सा.

तीर्थ निर्माता : बालराई निवासी
श्रीमती भंवरीबाई धेवरचंदजी सुराणा परिवार
(माइको लेब्स - बैंगलोर)

श्री शंखेश्वर पार्श्वनाथ भगवान
का त्रि-शिखरी जिनालय

श्री विजय सुशील सूरि स्मृति मन्दिर

दिव्य कृपा

जहाँ श्री सुशील गुरु की महेर है।
वहाँ सदा लीला लेहर है।

पूज्य श्री सुशील गुरुदेव श्री के आशीर्वाद से

निर्माणाधीन तीर्थ

- श्री मुनि सुव्रतस्वामी जैन नवग्रह मन्दिर
  जैन म्युजियम, महाबलीपुरम्, चैन्नई
- श्री शंखेश्वर पार्श्वनाथ-धरणेन्द्र-पद्मावती
  तीर्थधाम, रामनगर, बैंगलोर
- श्री महावीर धाम कर्नूल (आन्ध्रप्रदेश)
- श्री त्रैलोक्य शंखेश्वर पार्श्वनाथ तीर्थधाम
  (चैन्नई-बैंगलोर हाइवे) चैन्नई
- श्री नागेश्वर पार्श्व-भैरवधाम
  पी.बी. रोड, दावणगेरे (कर्नाटक)
- श्री आदिनाथ जैन तीर्थ, पेद्दमीरम् (आन्ध्रप्रदेश)

प. पू. शासन सम्राट्
समुदाय के वडिल–गच्छाधिपति
परम पूज्य आचार्य भगवंत

श्रीमद् विजय सुशील सूरीश्वरजी म.सा.

जीवन परिचय

जन्म : वि.सं. १९७३ भाद्रपद शुक्ल द्वादशी २८ सितम्बर १९१७ चाणस्मा (उत्तर गुजरात)
माता : श्रीमती चंचल बेन मेहता
पिता : श्री चतुरभाई मेहता
नाम : गोदड़भाई
परिवार गौत्र : चौहाण गौत्र वीशा श्रीमाली

संयमी परिवार : पिताजी व दो भाई एवं एक बहन ने जैन भागवती दीक्षा अंगीकार की।
दीक्षा : वि.सं. १९८८ कार्तिक (मार्गशीर्ष) कृष्णा २ दिनांक २७ नवम्बर १९३१ श्री पद्मनाभ स्वामी जैन तीर्थ, उदयपुर (राज.)
दीक्षा नाम : पू. मुनि श्री सुशील विजय जी म.सा.
बड़ी दिक्षा : वि.सं. १९८८ महासुदी पंचमी, सेरिसा तीर्थ (गुजरात)
गणिपदवी : वि.सं. २००७ कार्तिक (मार्ग शीर्ष) कृष्णा ६, दिनांक १ दिसम्बर १९५० वेरावल (गुजरात)
पंन्यास पदवी : वि.सं. २००७ वैशाख शुक्ला ३ दिनांक ६ मई १९५१ अहमदाबाद (गुजरात)
उपाध्याय पद : वि.सं. २०२१ माघ शुक्ला ३ दिनांक ४ फरवरी १९६५ मुंडारा (राजस्थान)
आचार्य पद : वि.सं. २०२१ माघ शुक्ला ५ दिनांक ६ फरवरी १९६५ मुंडारा (राजस्थान)
कालधर्म : वि.सं. २०६१, आसोज सुदि–८ मंगलवार, ११ अक्टूबर २००५ चिकपेट, बैंगलोर
साहित्य सर्जन : सर्जन करीब १७० ग्रंथ पुस्तकों का लेखन, पुस्तकों का अनुवाद, ग्रन्थों का सम्पादन
प्रतिष्ठाएँ : १८७ से अधिक जैन मंदिरों की प्रतिष्ठाएँ व अंजनशलाकाएँ (वि.सं. २०२१ से वि.सं. २०६१ तक)
जैन तीर्थ निर्माता : श्री अष्टापद जैन तीर्थ– सुशील विहार, रानी (राजस्थान)
अलंकरण : साहित्य रत्न, शास्त्र विशारद एवं कवि भूषण–मुंडारा (राजस्थान)

जैनधर्म दिवाकर – वि.सं. २०२७ जैसलमेर (राजस्थान)
मरुधर देशोद्धारक – वि.सं. २०२८ रानी स्टेशन (राजस्थान)
राजस्थान दीपक – वि.सं. २०३१ पाली–मारवाड़ (राजस्थान)
शासन रत्न – वि.सं. २०३१ जोधपुर (राजस्थान)
श्री जैन शासन शणगार – वि.सं. २०४६ मेड़ता सिटी (राजस्थान)
प्रतिष्ठा शिरोमणि – वि.सं. २०५० श्री नाकोड़ा जैन तीर्थ, मेवानगर (राजस्थान)
जैन शासन शिरोमणि – वि.सं. २०५५ पाली शहर में
पट्ट परम्परा – श्रमण भगवान श्री महावीर स्वामी परमात्मा के पंचम गणधर श्री सुधर्मास्वामी जी महाराज की सुविहित परम्परा के ७७ वें पाट पर सुशोभित तपागच्छाचार्य।

श्री सुशील गुरुकृपा प्राप्त - प्रतिष्ठाचार्य
प.पू. आचार्यदेव श्रीमद् विजय जिनोत्तम सूरीश्वरजी म.सा.

मिताक्षरी परिचय

माता	:	श्री दाड़मी बाई (वर्तमान में साध्वी श्री दिव्यप्रज्ञा श्रीजी)
पिता	:	श्री उत्तमचन्दजी अमीचन्दजी मरड़ीया (प्राग्वाट)
जन्म	:	जावाल सं. २०१८ चैत्र वद-६, शनिवार, २७ मार्च, १९६२
सांसारिक नाम	:	जयन्तीलाल
श्रमण नाम	:	पू. मुनिराज श्री जिनोत्तम विजयजी म.
गुरूदेव	:	प.पू. आचार्य भगवंत श्रीमद् विजय सुशीलसूरीश्वरजी म.सा.
दीक्षा	:	जावाल सं. २०२८ ज्येष्ठ वद-५ रविवार १५ मई, १९७१
बड़ी दीक्षा	:	उदयपुर सं. २०२८ आषाढ़ शुक्ल-१०, शनिवार २ जुलाई १९७१
गणिपद	:	सोजत सिटी सं. २०४६ मिगशर शुक्ल-६, सोमवार, ४ दिसम्बर१९८९
पंन्यास पद	:	जावाल सं. २०४६, ज्येष्ठ शुक्ल १०, शनिवार, २ जून १९९०
उपाध्याय पद	:	कोसेलाव वि.सं. २०५३, मृगशीर्षवद-२, बुधवार, २७ नवम्बर, १९९६
आचार्य पद	:	लाटाडा वि.सं. २०५४ वैशाख शुक्ल-६, १२ मई १९९७

परिवार में दीक्षित

दादा- पू. मुनि श्री अरिहंत विजयजी म., दादी - पू. साध्वी श्री भाग्यलताश्रीजी म.
माता - पू. साध्वी श्री दीव्यप्रज्ञाश्रीजी म., भुआ - पू. साध्वी श्री स्नेहलताश्रीजी म.
भुआ - पू. साध्वी श्री भव्यगुणाश्रीजी म.

प्रास्ताविकम्

(प्रथम खण्ड से उद्धृत)

संसारोऽयं जन्ममरणस्वरूप-संसरणभवान्तरभ्रमणायाः विन्ध्याटवीव घनतमिस्रावृत्तादर्शनतत्वा भ्रमणाटवी। कर्मक्लेशकर्दमानुविद्धेऽस्मिन् जगतीच्छन्ति सर्वे कर्मक्लेशकर्दमैः पारं मोक्षायाहर्निशम् गन्तुम। कथं निवृत्तिः दुखैः ? कथं प्रवृत्तिः सुखेषु च ? जिज्ञासयानया तत्त्वदर्शिनः मथ्नन्ति दर्शनागमसागरं तत्त्वामृतप्राप्तये त्रिविष्टपैरिवात्र।

श्रीजैनश्वेताम्बर-दिगम्बरसम्प्रदाये श्रीमदुमास्वातिरपि अजायत महान् वाचकप्रवरः येन तत्त्वचिन्तने कृत्वा भगीरथश्रमञ्चाविष्कृतममृतं, भव्यदेवानां कृते मोक्षायात्र। उमास्वातिस्तत्त्वार्थाधिगम-सूत्राणां रचयितासीत्। यो हि वाचकमुख्यशिवश्रीनां प्रशिष्यः शिष्यश्च घोषनन्दिश्रमणस्य। एवञ्च वाचनापेक्षया शिष्यो बभूव मूलनामकवाचकाचार्याणाम्। मूलनामकवाचकाचार्यः महावाचकश्रमणश्रीमुण्डपादस्य शिष्यः आसीत्।

न्यग्रोधिकानगरमपि धन्यं बभूव वाचकश्रीउमास्वातेः जन्मना। स्वातिः नाम्नः पितापि उमास्वातिः सदृशं पुत्ररत्नं प्राप्य स्वपूर्वपुण्यफलमवापेह। धन्या जाता वात्सीजननी। उमास्वातिः स्वजन्मनाऽलंचकार कौभीषणीगोत्रम् नागरवाचकशाखाञ्च।

स्थाने-स्थाने विहरतोऽयं महापुरुषः कृतगुरुक्रमागतागमाभ्यासः कुसुमपुरनगरे रचयामास ग्रन्थोऽयं तत्त्वार्थाधिगमभाष्यः। ग्रन्थोऽयं रचितवान् स्वान्तसुखाय प्राणिमोक्षाय कल्याणाय च।

तेन महाभागेन तत्त्वार्थाधिगमसूत्रेषु स्पष्टीकृतं यज्जीवाः सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्रपूर्वकं वैराग्यं यावन्नैवाधिगच्छन्ति संसारशरीरभोगाभ्यां तावन्मोक्षसिद्धिः दुर्लभा।

सम्यग्दर्शनाभावे ज्ञानवैराग्येऽपि दुष्प्राप्ये। जीवानां जगति क्लेशाः कर्मोदय-प्रतिफलानि जायन्ते। जीवानां कृत्स्नं जन्म जगति कर्मक्लेशैरनुविद्धः। भवेच्चानुबन्ध-परंपरेति तत्त्वार्थाधिगमे विश्लेषितमस्ति। कर्मक्लेशाभ्यामपरामृष्टावस्था एव सत्स्वरूपं सुखस्य। पातञ्जलयोगदर्शनेऽपि "क्लेशकर्मविपाकाशयैरपरामृष्टः पुरुषः विशेषः ईश्वरः" जैनदर्शने तु इदमप्येकान्तिकम् यत् पातञ्जलिना पुरुषजीवं ज्ञानस्वरूपं वा सुखस्वरूपं नैवामन्यत। किन्तु जैनदर्शने तु जीवः ज्ञानस्वरूपश्च सुखस्वरूपश्चापि क्लेशकर्मविपाकाशयैरपरामृष्टावस्थायाः धारको विद्यते। निर्दोषमेतदेव सत्यमुपादेयञ्च।

तत्त्वार्थाधिगमे दशाध्यायाः सन्ति येषु विशदीकृतं व्याख्यातञ्च जैनतत्त्वदर्शनम्। तत्त्वार्थाधिगमस्य संस्कृतहिन्दीभाषायां व्याख्यायितोऽयं ग्रन्थः विद्वद्मूर्धन्याचार्यैः

श्रीविजयसुशीलसूरीश्वर - महोदयैः अतीवोपादेयत्वं धार्यते। जैनदर्शनसाहित्ये शताधिकग्रन्थानां रचयिता श्रीमद्विजयसुशीलसूरीश्वरः दर्शनशास्त्राणां अतीवमेधावी विद्वान् वर्तते।

उर्वरीक्रियतेऽनेन भवमरुधराऽखिलमण्डलम्। जिनशासनञ्च स्वतपतेज-व्याख्यान-लेखन-पीयूषधारा जीमूतमिव श्रीमद्विजयसुशीलसूरीश्वरेण प्रथमेऽध्याये मोक्षपुरुषार्थसिद्धये निर्दोषप्रवृत्तिश्च तस्या जघन्यमध्यमोत्तरस्वरूपं विशदीकृतमस्ति-

(1) देवपूजनस्यावश्यकता तस्य फलसिद्धिः।

(2) सम्यग्दर्शनस्य स्वरूपं तथा तत्त्वानां व्यवहारलक्षणानि।

(3) प्रमाणनयस्वरूपस्य वर्णनम्।

(4) जिनवचनश्रोतृणां व्याख्यातृणाञ्च फलप्राप्तिः।

(5) ग्रंथव्याख्यानप्रोत्साहनम्।

(6) श्रेयमार्गस्योपदेशः सरलसुबोधटीकया विवक्षितः।

अस्य ग्रंथस्य टीका आचार्यप्रवरेण समयानुकूल-मनोवैज्ञानिक-विश्लेषणेन महत्ती प्रभावोत्पादका कृता। आचार्यदेवेन तत्त्वार्थाधिगमसूत्रसदृशः क्लिष्टविषयोऽपि सरलरीत्या प्रबोधितः। जनसामान्यबुद्धिरपि जनः तत्त्वविषयं आत्मसात्कर्तुं शक्नोति।

अस्मिन् भौतिकयुगे सर्वेऽपि भौतिकैषणाग्रस्ता मिथ्यासुखतृष्णायां व्याकुलाः मृगो जलमिव भ्रमन्ति आत्मशान्तये। आत्मशान्तिस्तु भौतिकसुखेषु असम्भवा। भवाम्भोधिपोतरिवायं ग्रन्थः मोक्षमार्गस्य पाथेयमिव सर्वेषां तत्त्वदर्शनस्य रुचि प्रवर्धयति। आत्मशान्तिस्तु तत्त्वदर्शनाध्ययनेनैव वर्तते न तु भौतिकशिक्षया। एतादृशी सांसारिकोविभीषिकायां आचार्यमहोदयस्यायं ग्रन्थः संजीवनीवोपयोगित्वं धार्यते संसारिणाम्। ज्ञानजिज्ञासुनां कृते ग्रन्थोऽयं शाश्वतसुखस्य पुण्यपद्धतिरिव मोक्षमार्गं प्रशस्तिकरोति।

आशासेऽधिगत्य ग्रन्थोऽयं पाठकाः स्वजीवनं ज्ञानदर्शनचारित्रमयं कृत्वाऽनुभविष्यन्ति अपूर्वशान्तिमिति शुभम्।

फाल्गुन शुक्ला पूर्णिमा
जालोर (राजस्थान)

- पं. हीरालाल शास्त्री, एम.ए.
संस्कृतव्याख्याता

प्रकाशकीय-निवेदन

'श्रीतत्त्वार्थाधिगम-सूत्रम्' नाम से सुप्रसिद्ध महान् ग्रन्थ आज भी श्रीजैनदर्शन के अद्वितीय आगमशास्त्र के सार-रूप श्रेष्ठ है। इसके रचयिता पूर्वधर-परमर्षि सुप्रसिद्ध परम पूज्य वाचकप्रवर श्री उमास्वातिजी महाराज हैं। इस महान् ग्रन्थ पर भाष्य, वृत्ति-टीका तथा विवरणादि विशेष प्रमाण में उपलब्ध हैं एवं विविध भाषाओं में भी इस पर विपुल साहित्य रचा गया है। उनमें से कुछ मुद्रित भी है और कुछ आज भी अमुद्रित है।

इस तत्त्वार्थाधिगम सूत्र पर समर्थ विद्वान् पूज्यपाद आचार्यदेव श्रीमद्विजय सुशील सूरीश्वरजी म.सा. ने भी सरल संस्कृत भाषा में संक्षिप्त 'सुबोधिका टीका' रची है तथा सरल हिन्दी भाषा में अर्थ युक्त विवेचनामृत अतीव सुन्दर लिखा है।

इसके प्रथम और द्वितीय अध्याय का पहला खण्ड, तृतीय और चतुर्थ अध्याय का दूसरा खण्ड तथा पाँचवें और छठे अध्याय का तीसरा खण्ड, सातवें और आठवें अध्याय का चतुर्थ खण्ड सुबोधिका टीका व तत्त्वार्थविवेचनामृत सहित हमारी समिति की ओर से पूर्व में प्रकाशित किया जा चुका है। अब श्रीतत्त्वार्थाधिगम सूत्र के नवम और दशम अध्याय का पंचम खण्ड प्रकाशित करते हुए हमें हर्ष-आनन्द का अनुभव हो रहा है। परमपूज्य आचार्य म. श्री को इस ग्रन्थ की सुबोधिका टीका, विवेचनामृत तथा सरलार्थ बनाने की सत्प्रेरणा करने वाले उन्हीं के पट्टधर-शिष्यरत्न पूज्य उपाध्याय श्री विनोद विजय जी गणिवर्य महाराज हैं। हमें इस ग्रन्थरत्न को शीघ्र प्रकाशित करने की सत्प्रेरणा देने वाले भी पू. उपाध्याय जी म. हैं।

ग्रन्थ के स्वच्छ, शुद्ध एवं निर्दोष प्रकाशन का कार्य डॉ. डॉ. चेतनप्रकाशजी पाटनी की देख-रेख में सम्पन्न हुआ है।

ग्रन्थ-प्रकाशन में अर्थ-व्यवस्था का सम्पूर्ण लाभ सुकृत के सहयोगी श्री पिण्डवाड़ा जैन संघ, समस्त पिण्डवाड़ा एवम श्री सुपार्श्वनाथ जैन श्वेताम्बर मूर्तिपूजक संघ दावणगेरे द्वारा लिया गया है।

इन सभी का हम हार्दिक धन्यवाद पूर्वक आभार मानते हैं।

यह ग्रन्थ चतुर्विध संघ के समस्त तत्त्वानुरागी महानुभावों के लिए तथा श्री जैनधर्म में रुचि रखने वाले अन्य तत्त्वप्रेमियों के लिए भी अति उपयोगी सिद्ध होगा। इसी आशा के साथ यह ग्रन्थ स्वाध्यायार्थ आपके हाथों में प्रस्तुत है। ●●●

तत्त्वार्थ भूमिका

भारतीय मनीषी, सत्यान्वेषण के प्रति अनादि काल सजग एवं सचेष्ट रहे हैं जिनकी सत्यान्वेषणा एवं त्त्वगवेषणा आज भी पूर्णत: प्रासंगिक है। आचार्यश्री सुशील सुरीश्वर जी महाराज भी प्राचीन मनीषियों के पदचिन्हों का अनुसरण करते हुए अपनी नवनवोन्मेषिणी प्रतिभा से तात्त्विक ग्रन्थों का प्रणयन करते हुए साहित्य समृद्धि में तल्लीन है।

श्री तच्वार्थाधिगमसूत्र जैनागम रहस्यवेत्ता पूर्वधर वाचक प्रवर श्री उमास्वाति महाराज की कालजयी कृति है। यह ग्रन्थरत्न श्वेताम्बर-दिगम्बर नामक उभयविध जैन सम्प्रदायों का मान्य ग्रन्थ है। जैन साहित्य का संस्कृत भाषा में निबद्ध यह प्रथम सूत्र ग्रन्थ है। यह सूत्र ग्रन्थ दस अध्यायों में विभक्त है। इसके कुल सूत्रों की संख्या ३४४ है। प्रत्येक अध्याय में विद्यमान तत्त्व विवेचना सारांशत: इस प्रकार है-

प्रथम अध्याय - इस अध्याय में ३५२ सूत्र है। शास्त्र की प्रधानता,सम्यग्दर्शन का लक्षण सम्यक्त्व की उत्पत्ति तत्त्वों के नाम, निक्षेपों के नाम, तत्वों की विचारणा के साथ ज्ञान का स्वरूप तथा सप्तनयों का स्वरूप आदि का तात्त्विक सूत्रात्मक प्रतिपादन है, जिसे आचार्य प्रवर सुशील सूरीश्वर ने सुबोधिका नामक संस्कृत टीका, सूत्रार्थ एवं हिन्दी विवेचनामृत द्वारा सरल एवं सुगम बनाने का प्रशस्त प्रयास किया है।

द्वितीय अध्याय - इस अध्याय में ५२ सूत्र है। इस में जीवों के लक्षण औपशमिक आदि भावो के ५३ भेद जीव-भेद इन्द्रिय,गति,शरीर,आयुष्य की स्थिति इत्यादि का विशद विवेचन हुआ की।

तृतीय अध्याय - इस अध्याय में कुल १८ सूत्र है। इनमें सात पृथ्वियों, नरक के जीवों की वेदना एवम् आयुष्य मनुष्य क्षेत्र का वर्णन,तिर्यञ्च जीवों के भेद व स्थिति आदि का प्रामाणिक विवेचन है।

चतुर्थ अध्याय - प्रस्तुत अध्याय में ५३ सूत्र है जिनमें देवलोक, देवों की ऋद्धि और उनके जघन्योत्कृष्ट आयुष्य आदि का विशद प्रतिपादन है।

पंचम अध्याय - प्रस्तुत अध्याय में ४४ सूत्र है, जिनमें धर्मास्तिकाय आदि अजीव तत्त्व का निरूपण व षड्द्रव्य का भी वर्णन है। पदार्थो के विषय में जैनदर्शन तथा जैनेतर दर्शनों का वर्णन है। जैनदर्शन षड्द्रव्य मानतें है। जिनमें एक जीव द्रव्य है शेष अजीव द्रव्य है।

षष्ठ अध्याय - प्रस्तुस अध्याय में २६ सूत्र है इनमें आस्रव तत्त्व के कारणों का स्पष्टीकरण है। इसकी उत्पत्ति यागों की प्रवृत्ति से होती है। अत: पुण्य को पृथक् न रखकर आस्रव में ही पुण्य-पाप का समावेश किया गया है।

सप्तम अध्याय – प्रस्तुत अध्याय में कुल ३४ सूत्र है जिनमें देशविरति और सर्वविरति व्रतों का तथा अतिचारों का विशद वर्णन है।

अष्टम अध्याय – प्रस्तुत अध्याय में २६ सूत्र है जिनमें मिथ्यात्वादि जन्य बन्धतत्त्व का निरूपण तात्त्विक रूप से किया गया है।

नवम अध्याय – प्रस्तुत अध्याय में ४९ सूत्र है जिनके द्वारा संवर एवं निर्जरा तत्त्व का विशद वर्णन किया गया है।

दशम अध्याय – प्रस्तुत अध्याय में ७ सूत्र है। इसमें मोक्ष तत्त्व का विशद वर्णन है। उपसंहार करते हुए ग्रन्थकार ने ३२ श्लोकों के माध्यम से अन्तिम उपदेश प्रस्तुत किए है। इनमें सिद्ध भगवान् का निर्मल स्वरूपादि विशद रीति से वर्णित है।

तत्त्वार्थाधिगमसूत्र पर भाष्य-टीकाग्रन्थाः

१. श्री तत्त्वार्थाधिगम सूत्र की गहनता एवम् उपादेयता को ध्यान में रखते हुए श्री उमास्वाति महाराज ने स्वयं स्वोपज्ञभाष्य की रचना की है जो कि 'तत्त्वार्थाधिगम भाष्यम्' के रूप में अद्यावधि मुद्रित स्थिति में प्राप्त है।

२. तत्त्वार्थाधिगम सूत्र के उक्त विशद भाष्य का अनुसरण करते हुए श्री सिद्धसेनगणि महाराज ने एक बड़ी टीका लिखी है। जो कि १८२०२ श्लोक प्रमाण मानी जाती है। तत्त्वार्थ पर यह सबसे बड़ी टीका है।

३. श्री तत्त्वार्थाधिगम भाष्य पर १४४४ ग्रन्थों के प्रणेता आचार्य हरिभद्र सूरीश्वरजी महाराज द्वारा प्रणीत टीका ११००० श्लोक प्रमाण है। आचार्य श्री की यह टीका षष्ठ अध्याय के कतिपय अंश तक थी जिसे आचार्य यशोभद्र सूरि जी ने परिपूर्ण किया था।

४. इस ग्रन्थरत्न पर मुनिराज चिरन्तनकृत 'तत्त्वार्थ टिप्पण' भी नितान्त उपादेय है।

५. इस ग्रन्थ के प्रथम अध्याय पर न्याय विशारद महोपाध्याय श्री यशोविजय जी ने 'भाष्यतर्कानुसारिणी' टीका रची है।

६. तत्त्वार्थाधिगम सूत्र के आधार पर ही आगमोद्धारक श्री सागरानंद सूरीश्वर जी महाराज साहब ने 'तत्त्वार्थकर्तृत्वतन्मत निर्णय' नामक ग्रन्थ लिखा है।

७. भाष्यतर्कानुसारिणी टीका पर शासन सम्राट् श्रीमद् विजय नेमसूरीश्वरजी महाराज के प्रधान पट्टधर न्यायवाचस्पति शास्त्रविशारद आचार्य प्रवर श्रीमद् विजय दर्शन सूरीश्वर जी महाराज ने श्री तत्त्वार्थसूत्र पर विवरण को हृदयंगम कराने की भावना से 'गूढार्थदीपिका' नामक विशद वृत्ति की रचना की है।

८. शासन सम्राट के दिव्य पट्टालंकार व्याकरणवाचस्पति-शास्त्रविशारद-साहित्य सम्राट आचार्य श्रीमद् विजयलावण्य सूरीश्वरजी ने त्रिसूत्री प्रकाशिका नाम विशद टीका लिखी है जो कि ४२०० श्लोक प्रमाण है। यह टीका-

१. उत्पाद-व्यय-ध्रौव्ययुक्तं सत्

२. तद्भावाव्ययं नित्यम्

३. अर्पितानर्पित सिद्धेः

इन तीन सूत्रों पर आधारित है। इन संस्कृत व्याख्या ग्रन्थों के अतिरिक्त हिन्दी, गुजराती आदि भाषाओं में अनेक टीकाएं सम्प्रति विद्यमान है।

प्रस्तुत प्रणयन

तत्त्वार्थाधिगम सूत्र की गम्भीरता को देखकर आचार्य प्रवर श्रीमद् विजय सुशील सूरीश्वर जी महाराज साहब ने **'सुबोधिकाटीका'** संस्कृत भाषा में तथा हिन्दी भाषा में विवेचनामृत द्वारा विषय का सुगम सरल एवं सफल प्रतिपादन किया है जिससे तत्त्वार्थ को समझने में अत्यन्त सुविधा होगी। आचार्य श्री अपने प्रतिदिन के स्वाध्याय में प्रस्तुत तत्त्वार्थ सूत्र की आवृत्ति करते हैं। अतः अनेक स्वानुभूतियों का सहज प्रकाशन भी आपने प्रस्तुत प्रणयन में साधिकार किया है, जिससे विषय सहज सुगम्य हो गया है।

वर्तमान समय में प्रचीन संस्कृत व्याख्याएँ दुरूह होती जा रही है। अध्ययन-अध्यापन में पूर्ववत् क्रम परिलक्षित नहीं हो रहा है। अतः अध्येता की आधारशिला कमजोर होती जा रही है। ऐसी परिस्थिति में संस्कृत व्याख्याओं का सरलीकरण तथा हिन्दी भाषा में विवेचन परमावश्यक हो गया है। आचार्य प्रवर संस्कृत-हिन्दी-गुजराती तीनों भाषाओं के ज्ञाता तथा उत्कृष्ट साहित्यकार है। आपश्री ने धार्मिक अनुष्ठान,तपस्त्यागदि जिन शासन प्रभावना के महनीय कार्यों में निरन्तर व्यस्त रहते हुए भी साहित्य-सृजन में दत्तचित्त रहते हुए यह अनुपम ग्रन्थ रत्न तत्त्वार्थ प्रेमियों के लिए समर्पित किया है। आपका यह उत्कृष्ट अवदान शतशः अनुमोदनीय एवं प्रशंसनीय है।

यह ग्रन्थ रत्न जिन शासन की शोभा है। साहित्य प्रेमी जिज्ञासु-वृन्द इसकी उपादेयता को विधिवत् समझकर इसका पठन,मनन एवं संग्रहण करेंगे-यह मेरा विश्वास है।

विदुषां वशंवदः

शम्भुदयाल पाण्डेयः

व्याख्याता-संस्कृतम्

卐 ॐ ह्रीँ अर्हते नमः 卐

卐 श्रीतत्त्वार्थाधिगमसूत्रम् 卐

तस्यायं

नवमोध्यायः

अष्टमाध्याये बन्धतत्त्वनिरूपणं कृतम्। अधुना क्रमप्राप्तस्य संवरतत्त्वस्य निर्जरातत्त्वस्य च निरुपणं क्रियते-

* संवर तत्त्वम् *

卐 सूत्रम् -

आश्रवनिरोधः संवरः ॥ ९-१ ॥

卐 सुबोधिका टीका 卐

आश्रवनिरोधेति। कर्मणाम् आगमनमार्ग आश्रवः कथ्यते। आश्रवस्य द्विचत्वारिंशद् भेदानां प्रतिरोधकस्तावत् संवरः। समासेनेदमत्रावधेयं यदाश्रवप्रतिपक्षी संवरः। यथा यथाहि आश्रवप्रतिरोधो भवति तथा तथा संवरसिद्धीः प्रजायते।

संवृणोति कर्ममार्गमिति संवरः।

* **सूत्रार्थ** :- आश्रव का निरोध (रूकना) **'संवर'** कहलाता है। अर्थात् संवर वह तत्व है, जिससे कर्मो का आश्रव(आना) रूक जाता है॥ ९-१ ॥

* विवेचनामृत *

जिस निमित्त से कर्मबन्ध होता है, उसे आश्रव कहते है। षष्ठाध्याय(छठे) में बयालीस मौलिक आश्रवों का उल्लेख किया गया है, उनका प्रतिरोधक तत्त्व 'संवर' कहलाता है। संक्षेप में यह ध्यातव्य है कि संवर, आश्रव का प्रतिपक्षी होता है। जैसे-जैसे आश्रव का प्रतिरोध सधता जाता है वैसे-वैसे ही 'संवरसिद्धी' सुदृढ़ होती जाती है। वस्तुतः कर्मों के आगमन को संवृत (बन्द) करने वाला तत्त्व 'संवर' अन्वर्थसंज्ञक है।

संवर के दो प्रकार है- १. देशसंवर २. सर्वसंवर।

देशसंवर - अर्थात् अमुक अल्प प्रकार के आस्त्रवों का अभाव। सर्वसंवर यानी सर्वप्रमकार के आश्रवों का अभाव। सर्वसंवर चौदहवें अयोगी गुण स्थान में होता है। उससे नीचे के सयोगी आदि गुण स्थानों में तो देशसंवर ही होता है। देशसंवर के बिना सर्वसंवर सधता नहीं है। अत: सर्वप्रथम देशसंवर के लिए प्रयत्न करना चाहिए।

आस्त्रव के ४२ भेदों का वर्णन पूर्व में हो चुका है उनका जितने अंशो में प्रतिरोध सध जाता है उतना ही'संवर' सफल होता है। आध्यात्म का विकास अर्थात गुणस्थानक का क्रम आस्त्रव का निरोध हो जायेगा वैसे-वैसे ही उत्तरोत्तर गुणस्थानक अर्थात् अध्यात्म विकास की अभिवृद्धि होती रहेगी।

※ सवंरपोया: ※

卐 सुत्रम् -

स गुप्ति समिति धर्मानुप्रेक्षापरीषहजय चारित्रै:॥ ९-२॥

स गुप्तिसमितीति। गुप्तिश्च, समितिश्च, धर्मश्च, अनुप्रेक्षा च परीषहजयश्च(परीषहाणां जय: = परीषहजय:) चरित्रं चेतिद्वन्समासे गुप्ति-समिति धर्मानुप्रेक्षा परीषहजय चारित्राणि-तै:=गुप्ति-समिति धर्मानुप्रेक्षापरीषहयजचारित्रै:। एभिर्गुप्त्यादिभि रूपायै स:=सवंर: सुद्रढ़ो भवति।

※ सूत्रार्थ - वह संवरसिद्धि, गुप्ति, समिति, धर्म, अनुप्रेक्षा, परिषहजय तथा चारित्र से होती है॥९-२॥

※ विवेचनामृत ※

जीवात्मा, आस्त्रव का कर्त्ता है और अजीव आस्त्रव में सहायक है। अतएव शाद्धकारों ने द्रव्यसंवर एवं भावसवंर का स्वरूप प्रस्तुत किया है। उसमें-

१. योग प्रवृत्ति को रोकने के लिए (निरोध के लिए) आत्म परिणाम को 'द्रव्यसंवर' समझना चाहिए।

द्रव्यसंवर के व्यवहार नय का स्वरूप 'तत्त्वार्थाधिगम' के सांतवे अध्याय में प्ररूपित है।

२. कषाय परिणाम को रोकने के लिए आत्मा का मोहनीय कर्म सम्बन्ध में उपशम क्षयोपराम तथा क्षायिक भावरूप जो विशुद्ध परिणाम होता है, उसे 'भावसंवर' कहते है।

उक्त दोनों द्रव्यसवंर व भावसंवर के अनेक भेद हो सकतें है तथापि शाद्धों में उसके १४

गुणस्थानक के रूप में चौदह भेद बताए गए है। उसमें जिस जिस गुणस्थान के जितनी द्रव्यसंवरता तथा भावसंवरता द्वारा जो बन्धविच्छेदता प्राप्त होती है, उसका विस्तृत स्वरूप कर्मग्रन्थानुशीलन से जानना चाहिए।

उक्त कथन से यह भी स्पष्ट समझ लेना परमावश्यक है कि 'जब तक आस्रव चालू रहता है तब तक संवर नहीं होता है'-ऐसा नहीं है किन्तु जिस भाव से जितना आस्रव रूका है, उस भाव से तथा रूप संवर तत्त्व परिपुष्ट होता है तथा तप-त्याग आदि के अनुष्ठान से पूर्वसंचित कर्म का क्षय भी होता है।

सवंर का स्वरूप, वस्तुत: एक ही प्रकार का है तथापि उपाय भेद से शाद्धकारों ने इस सूत्र में मुख्य छह भेदों का प्रतिपादन किया है -

१. गुप्ति २. समिति ३. धर्म ४. अनुप्रेक्षा ५. परीषहजय ६. चारित्र

गुप्त्यादि का विशद विवेचन स्वयं ग्रन्थकार ने आगामी सूत्रों में किया है॥ ९-२॥

❊ निर्जराया: उपाय: ❊

卐 सुत्रम् -

तपसा निर्जरा च ॥ ९-२॥

卐 सुबोधिका टीका 卐

तपसेति। तपसो द्वादश भेदा ग्रन्थकारेणास्मिन् नवमाऽध्याये (एकोनविशति- विशंति तमसुत्राभ्याम्) वक्ष्यन्ते। तपसा संवर: कर्मणां। निर्जरा च भवत:। अमोधोऽयं तपस: प्रयोग:। द्वादशविधतपोभि र्निजरासंवरौ भवत:। तपसि निर्जराप्राधान्यम्, च + कारात् संवरग्रहणाम्॥९-३॥

❊ सूत्रार्थ - तप से संवर और निर्जरा दोनों होते है॥९-३॥

❊ विवेचनामृत ❊

तप, जैसे सवंर का उपाय है वैसे ही निर्जरा का भी उपाय है। सामान्यतया तप लौकिक सुख की प्राप्ति का साधन माना जाता है फिर भी निश्चित रूप से वह आध्यात्मिक सुख का साधन है क्योंकि तप एक प्रकारक होते हुए भी भावना भेद से सकाम निष्काम नामक दो प्रकार का होता है। सकाम तप, लौकिक सुख का साधन है तथा निष्काम तप अध्यात्मिक, सुख का साधन है।

नवतत्त्वप्रकरण की व्याख्या में कहा गया है कि नूतन कर्मों के आगमन को जो रोकता है- वह 'संवर' है। इसको 'द्रव्यसवंर' कहते है। कर्मों को रोकने के लिए जीवात्मा जब शुद्ध उपयोग,

आत्मपरिणाम धारा का उपयोग करता है तब, उसे 'भाव संवर' कहते हैं। इसी के उपाय हेतु मुख्य छः भेद तथा तदनन्तर २७ भेद साधन स्वरूप बताये गए है।

यथा-

समिइ गुत्ति-परीसह, जइ धम्मो भावणा चरित्ताणी।
पणति दुवीस दशवार, स पंच भे एहिं समवन्ना॥

(नवतच्वाप्रकरण)

*** विशेष** - यद्यपि गुप्ति आदि से भी संवर के साथ निर्जरा भी होती है किन्तु तप से निर्जरा अधिक होती है। अतः तप में निर्जरा की प्रधानता है तथा गुप्ति आदि में संवर की प्रधानता है॥९-३॥

* गुप्तेर्व्याख्या *

卐 सूत्रम्-

सम्यग्योगनि ग्रहो गुप्तिः॥९-४॥

卐 सुबोधिका टीका 卐

सम्यगिति। सम्यग् प्रकारेण मनोवचोकायाभिः कृतो योग निग्रहो गुप्तिरिति। शाद्धोक्तविधिना मनोवाक् + कायकृतयोगनिग्रहः कर्त्तव्यो न तु तद्विधिमत्सृज्यात एवोक्तम्- **सम्यगिति।** गुप्तिद्विधा- कायगुप्तिर्वाग्गुप्ति-र्मनो-गुप्तिश्चेति। तत्र शाद्धागमविधिविरुद्ध कायिक चेष्टानिरोध-विषयको नियमः कायगुप्तिः। शाद्धविरुद्धवाचिकचेष्टा-निरोधनियमो वाग्गुप्तिरिति। शाद्धविधिविरुद्ध मानसिकचेष्टाविषयानिरोधनियमो मनोगुप्तिर्भणतीति।

*** सूत्रार्थ** - सम्यक् (प्रशस्त) रूप से योग विग्रह को 'गुप्ति' कहते है॥९-४॥

* विवेचनामृत *

सम्यक् प्रकार से मन, वचन, काया रूपी त्रिकरण से शाद्धाज्ञान के अनुसार तत्तत् मानसिक, वाचिक एवं कायिक योगनिग्रह'गुप्ति' कहलाता है। गुप्ति के तीन प्रकार है- १ कायगुप्ति- आगमशाद्ध की विधियों के अनुसार चलने-फिरने, खाने-पीने, सोने-जागने आदि कायिक चेष्टाओं को जो संयमित(प्रतिरोधित) करने के नियम है, उसे 'कायगुप्ति' कहते है।

२. वाग् गुप्ति - शाद्ध प्रतिपादित विधि के अनुसार-वाणी-व्यवहार को संयमित करना, सावद्य-वाचिक व्यवहार से विरमण, वाणीसंयम को ही'वाग्गुप्ति' कहते है। शाद्धानुसार 'वाग्गुप्ति' की साधना सत्यव्रत को परिपुष्ट एवं वाणी के सौन्दर्य को निखारती है।

३. मनोगुप्ति - शाद्धीय विधि के विरुद्ध मानसिक चेष्टाओं को लेशमात्र भी गतिशील होने

से रोकना, सावद्य संकल्प-विकल्पों से विरत करना 'मनोगुप्ति' कहलाता है।

मनोगुप्ति के सम्यग् आराधना से मानसिक जागृति होती है, उदार मानसिकता की अभिवृद्धि होती है, आत्मजागृति में परमसहायक मानसिक सम्बल एवं मानस-सौंदर्य निखरता है।

गुप्तित्रयी, सवं की प्रमुख साधयित्री है। अत: जिज्ञासुओं तथा मुमुक्षुओं को सम्यक् प्रकार से, निष्ठापूर्वक गुप्तित्रयी को अपने आचरण का अभिन्न अंग बनाना चाहिए।

*** विशेष** - ज्ञान-श्रद्धा युक्त योगनिग्रह ही सम्यक् है।

अर्थात सम्यग्ज्ञान तथा सम्यग्दर्शन पूर्वक कृत 'योगनिग्रह' सम्यक् है। अत: सम्यग्ज्ञान और सम्यग्दर्शन के बिना योगनिग्रह गुप्ति नहीं क्लेशरूप मात्र है। प्रस्तुत सूत्र में निग्रह का अर्थ केवल निवृत्ति नहीं है अपितु-प्रवृत्ति-निवृत्ति उभयस्वरूप है। शाद्धनिषिद्ध यागों को निवृत्ति तथा शाद्धविहित योग की प्रवृत्ति।

कायोत्सर्ग इत्यादि द्वारा कायव्यापार की निवृत्ति या शाद्ध विहित अनुष्ठानों में शाद्धीय विधि के अनुसार प्रवृत्ति को 'कायगुप्ति' कहते है।

मौनव्रत आदि द्वारा वचन व्यापार की निवृत्ति या शाद्धोक्त विधि के मुताबिक स्वाध्याय एवम् उपदेशादिक में वचन प्रवृति को वाग् गुप्ति(वचन गुप्ति) कहते है।

आर्त्तध्यान तथा रौद्र ध्यान स्वरूप अशुभ विचारों से निवृति या धर्म ध्यान के शुभध्यान में मन की प्रवृत्ति, या फिर शुभ-अशुभ उभयविध विचारों का त्याग 'मनोगुप्ति' कहते है।

*** सारांश** - पूर्वकथित (अध्याय छ सूत्र १) योगों को समस्त प्रकार से रोकना अर्थात् निग्रह करना यह वास्तविक रूप से संवर नहीं है। ज्ञानवृद्धि से श्रद्धापूर्वक, मन, वचन तथा काया को उन्मार्ग से रोकना'गुप्ति' है तथा एवं प्रकारक गुप्ति ही संवर का उपाय कही जाती है। अत: तात्त्विकार्थ यह है कि मन, वचन, काया के सावद्य व्यापारों(चेष्टाओं) का निरोध करना ही 'गुप्ति' पदार्थ है॥८-५॥

* पञ्चसमिति-वर्णनम् *

卐 सुत्रम् -

ईर्या-भाषैषणादान-निक्षेपोत्सर्गः समितयः ॥९-५॥

卐 सुबोधिका टीका 卐

ईर्याभाषेति। पूर्वस्मात् सूत्रादस्मिन् सूत्रे'सम्यक्' पदस्यानुवृत्तिः। सम्यग् पदस्य प्रत्येकं

---

१. यह मनोगुप्ति योग निरोध अवस्था में होती है।

योग:। तस्मादेवाय निष्कृष्टार्थ: संभवति-सम्यग् ईर्या, सम्यग् भाषा, सम्यग् एषणा, सम्यगादाननिक्षेपसम्यगुत्सर्गरूपा: पञ्चसमितयो भवन्तीति।

सत्यावश्यके + गमने दृष्टिपूते मार्गे शनै:-शनै: पूर्णजागृतिपूर्वक चरणगति: ईर्यासमिति:। शाद्धानुसारानवद्यसंभाषणं भाषासमिति: । उद्गमोत्पादनदोषपरिहारपूर्वकधर्मसाधनग्रहणान्नपान प्रवृति रेषणासमिति:। आवश्यक कार्य रजोहरणपात्र श्वेतवद्धादीनां काष्ठासनादीनां वस्तूनां परिमार्जनपूर्वकग्रहणस्थापनप्रवृत्तिरादाननिक्षेपण समिति:। स्थानं प्रमृज्य विशोध्य मूत्र-पुरीषादी ना मुत्सर्जनम् उत्सर्गसमिति: कथ्यते।

*** सूत्रार्थ** – सम्यग् ईर्या, सम्यग् भाषा, सम्यग् एषणा सम्यग् आदान निक्षेप और उत्सर्ग ये पाँच समितियाँ है।

* विवेचनामृत *

प्रस्तुत सूत्र में पूर्व सूत्र से 'सम्यक' पद की अनुवृत्ति होती है। 'सम्यक्' पद का अन्वय प्रत्येक पद के साथ होता है। अतएव यह अर्थ सुस्पष्ट होता है- सम्यग् ईर्या, सम्यग् भाषा, सम्यग् एषणा, सम्यग् आदान निक्षेप तथा सम्यग् उत्सर्ग नामक पाँच समितियाँ होती है।

सम्यक् प्रवृत्ति का ही अपर नाम समिति है। समस्त समितियों का समावेश ईर्या-आदि पाँच में हो जाता है। समिति के सत्प्रवृत्ति स्वरूप है तथा गुप्ति, प्रवृत्ति-निवृत्ति उभय स्वरूप है। अत: गुप्ति में समिति का समावेश हो जाता है फिर भी बाल जीवों को शीघ्र एवं स्पष्ट बोध हो एतदर्थ ही समितियों का पृथग् वर्णन किया गया है।

मन वचन तथा काया के व्यापारों की विवेक समेत प्रवृति को 'समिति' कहते है। यह पूर्वोक्त गुप्तिका अपवाद माना है। श्री समवायाङ्ग सूत्र में तीन गुप्तियों को चारित्र का उत्सर्ग मार्ग और इन गुप्तियों का अपवाद मार्ग पाँच समिति को कहा है क्योंकि वह केवल उत्सर्ग को कायम रखने के लिए है। इसके लिए शास्त्रों में उदाहरण आता है कि किसी भी मकान का बीम तड़क गया हो तो ऐसी स्थिति में खम्भा लगाना-सर्वथा उचित रहता है। इसी प्रकार उत्सर्ग मार्ग को कायम रखने के लिए ही अपवाद मार्ग आश्रणीय है, अन्यथा वर्जनीय है।

समितियों का क्रमिक विवेचन सारांशत: इस प्रकार समझना चाहिए-

ईर्यासमिति – ईर्या-गमन (गति)। किसी भी प्राणी को किसी प्रकार कष्ट-पीड़ा नहीं हो। ऐसी विवेकिता पूर्वक सावधानी के साथ गति करना 'ईर्यासमिति' है। चारित्र संयम की रक्षा उद्देश करके आवश्यक कार्य के लिए युग प्रमाण भूमिका का निरीक्षण पूर्वक जहाँ लोकवर्ग का गमनागमन

---

१. युगमात्र=चतुर्हस्त प्रमाणं शकटोर्द्धिसंस्थितं
(आचाराङ्ग श्रुत. २, अ.३, ३उ.१, सूत्र-११पू)
युग अर्थात् बैलों की गाड़ी में जोड़ने की 'धुरी'। वह चार हाथ लम्बी होती है।

होता हो तथा सूर्य का प्रकाश पड़ता हो ऐसे मार्ग में भी सावधानी पूर्व धीमी गति से जाना 'ईर्यासमिति' कहलाता है।

भाषासमिति - भाषा=बोलना। सत्य हितकारी हित, मित सम्भाषण भाषा समिति का विषय है। स्व-पर कल्याण से समन्वित गुणयुक्त वचन बोलना 'भाषा समिति' का अभिन्न स्वरूप है।

भाषा समिति के परिपालनार्थ कैसी वाणी का प्रयोग किया जाना चाहिए, उस सन्दर्भ में कहा है-

महुरं निउणं थोवं, कज्जावडियं अगव्वियमतुच्छं।
पुव्विं, मइसकंलियं, भणंति जं धम्म संजुत्तं।।

(उपदेश मालायाम्)

विचक्षण पुरूष-मधुर, निपुण, अल्प, कार्य पूर्ण करने के लिए मान-अभिमान रहित, उदार, विचार पूर्वक तथा धर्मयुक्त वचन बोलते है।

*** एषणा समिति- एषणा=गवेषणा।** जीवनयात्रा के लिए आवश्यक निर्दोष चीज वस्तुओं की सावधानी पूर्वक याचना के लिए प्रवृत्त होगा। अर्थात् चारित्र-संयम के निर्वाह के लिए आवास वद्ध, पात्र, आहार, औषध-इत्यादि वस्तुओं की शाद्धोक्त विधि के अनुसार गवेषणा करना ही'एषणा समिति' है।

उक्त कथन का सांराश यह है कि शाद्धोक्त विधि के अनुसार गवेषणा कर के दोष रहित आहार आदि का जो ग्रहण करना ही वह **'एषणा समिति'** है।

*** आदान-निक्षेप समिति** - आदान=ग्रहण।। निक्षेप=रखना। वस्तुमात्र को यत्न पूर्वक प्रमार्जन करके लेना या रखना। चारित्र-संयम के उपकरणों को, नेत्र से देखकर, तथा रजोहरणादि से प्रमार्जन करके ग्रहण करना चाहिए तथा भूमि का भी निरीक्षण-प्रमार्जन करने के पश्चात् कोई वस्तु रखना- **'आदान-निक्षेप समिति'** है।

*** उत्सर्ग समिति - उत्सर्ग = त्याग।** अनुपयोगी चीज-वस्तु को जीवाकुल रहित 'निर्वद्य' भूमि में डालना/त्यागना चाहिए। अर्थात्- शास्त्रोक्तविधि के अनुसार जमीन का प्रमार्जन (कीटादि रहित) करके मल आदि का त्याग करना **'उत्सर्गसमिति'** है।

शास्त्रों में पाँच समिति एवं तीन गुप्तियों को **'अष्टप्रवचनमाता'** के नाम से सम्बोधित किया गया है। जिस प्रकार माता, बालक को जनम देती है तथा उसका पालन-पोषण व संरक्षण भी करती है ठीक उस प्रकार पाँचसमिति तीन गुप्ति स्वरूप अष्टप्रवचन माता, प्रवचन=संयम को जन्म देती है रक्षण-पोषण करती है, इतनी ही नहीं अपितु उसे शुद्ध भी बनाती है।

गुप्ति एवं समिति के बिना संयम-चारित्र नहीं हो पाता तथा ग्रहण किए हुए चारित्र-संयम के रक्षण-पोषण भी सम्भव नहीं हो पाते। अत: ये संयम की सबल आराधना में प्रमुख कारण है। अतएव **'अष्टप्रवचनमाता'** अन्वर्थनाम से शाद्धकारों ने महिमाण्डित किया है॥८-५॥

❊ धर्मस्य वर्णनम् ❊

卐 सूत्रम् -

उत्तमक्षमामार्दवाऽऽर्जव-शौच-सत्य-संयम-तपस्यागाऽ-किन्चिन्य-ब्रह्मचर्याणि धर्मः॥९-६॥

卐 सुबोधिका टीका 卐

उत्तमेति। उत्तमपदेन क्षमादीनां दशविध धर्माणां साधुधर्म प्रसङ्गे उत्कृष्टत्वं द्योत्यते। उत्कृष्टक्षमामार्दवार्जवादिधर्मा: पन्च महाव्रत धारिणां कृते एव सन्ति। गृहस्थधर्मावलम्बिनामणुव्रत धारिणां विषये तु एतेषां जघन्यत्वमेव संसूच्यते। अर्थात् श्रावकाणां श्रविकाणां च विषये क्षमादिधर्मा जघन्यप्रकारका भावन्ति।

क्षमादिगुणसाधनैरेवक्रोधादिकषायाणमुपशमनं भवति। एतावताक्षमामार्दवादयोऽपि संवरोपाया एव सन्तीति ज्ञेयम्। क्षमा तावत् सहिष्णुता क्रोधनिग्रहस्वरूपा भवति। मृदोभाव: कर्म वा **मार्दवम्-**। आर्जवम्- ऋजो: भाव: सरलतेति पर्याय:। शौचम्-शुद्धि: आध्यामिक शुद्धिरिति यावत् । शास्त्रसम्मतं यथार्थवचनं **सत्यम्** । मानसिक-वाचिक-कायिक-त्रिकरणैर्विषय योगनिग्रह: संयम:। सामान्यत: संयमस्य सप्तदशभेदा:। तापयतीति तप:- कर्मकषायान् संताप्यात्मविशुद्धि तनोतीति तप:। बाह्याभ्यन्तर शुद्धि पूर्वकं योग्यपात्रेभ्य: सद्गुण ज्ञानादिप्रदानं त्याकधर्म:। अनासक्तिराकिञ्यन्यम् । मैथुनवृत्तित्यागपूर्वकं ब्रह्मणि=आत्मनि चरणं-ब्रह्मचर्यम्।

❊ सूत्रार्थ - क्षमा, मार्दव, आर्जव, शौच, सत्य, संयम, तप, त्याग, आकिञ्चन्य तथा ब्रह्मचर्य-यह दशविध धर्म उत्तम है।

❊ विवेचनामृत ❊

उत्कृष्ट क्षमा, मार्दव, आर्जव, शौच, सत्य, संयम, तप, त्याग आकिन्चन्य तथा, ब्रह्मचर्य-यह दश प्रकार का यति (मुनि) धर्म है।

व्रतधारियों के दो भेद है- सागार (साधुधर्म) , गृहस्थधर्म तथा अनगार (साधुधर्म) प्रस्तुत सूत्र में उत्तम पद द्वारा यह द्योतिक किया गया है कि उत्तम क्षमा आदि दशविध धर्म साधु-साध्वियों के ही हैं क्योंकि उत्कृष्ट क्षमा आदि दशविध धर्म अनगार(साधु-साध्वी) के ही होते है। गृहस्थ श्रावक-श्राविकाओं के सन्दर्भ में क्षमा आदि धर्म जघन्य प्रकारक होता है।

क्षमा आदि गुणों के साधन से ही क्रोधादिक दोषों का उपशमन, अभाव हो सकता है। अत: वे गुण संवर के उपाय स्वरूप है। क्षमा आदि दशप्रकार के जब अहिंसा तथा सत्य आदि मूल गुणों के साथ शुद्ध आहारादि प्रकर्ष, उत्तर गुणयुक्त हो तब वे यतिधर्म कहलातें है। अन्यथा वे गुण यति धर्म रूप नहीं हो सकतें है।

मूल गुण तथा उत्तर गुणरहित यदि क्षमादि गुण हो तो उसे सामानय धर्म कह सकतें है परन्तु यति धर्म की उच्चकोटि में उसका समावेश नहीं हो सकता है। इस दशविध यति धर्म का संक्षिप्त वर्णन इस प्रकार है-

१. क्षमा-

सहनशीलता को क्षमा कहते है। सहनशीलता, तितिक्षा, सहिष्णुता, क्रोधनिग्रह तथा क्षमा ये एकार्थवाची शब्द है।

क्षमा = सहिष्णुता। शारीरिक व मानसिक प्रतिकूलता में किसी (व्यक्ति विशेष) के निमित्त बनने पर भी क्रोध न करना, क्षमा (सहिष्णुता) का स्वरूप है।

यदि कोई क्रोधातुर हो जाय तो भी उस समय यह विचार करना चाहिए कि क्या इसमें मेरी भूल है? यदि अपनी ही भूल हो तो तत्काल शान्त हो जाना चाहिए। अपनी भूल नहीं हो तो विचार करना चाहिए कि इसमें इतनी बुद्धि नहीं है कि यह मेरी बात को समझ सके। इसलिए उसको तुच्छ बुद्धि जानकर के उसको क्षमा करना चाहिए।

- क्रोध के आवेश में मति और स्मृति भंग हो जाती है तथा शत्रुतादि अनेक प्रकार के दोष उत्पन्न हो जातें है। अतएव अहिंसा व्रत के लोप का कारण समझ के क्षमागुण को धारण करना चाहिए।
- यदि कोई कटुवचन कहे या परोक्ष में निन्दा करे तो भी जानना चाहिए कि इनका स्वभाव ही ऐसा है। हमें अपने शान्त व अहिंसक स्वभाव में लेश मात्र भी परिवर्तन नहीं लाना चाहिए। क्षमाभावना से अहिंसा-प्रतिष्ठित होती है।
- किसी भी अहित या अनिष्ट कार्य की उपस्थिति के समय अपने पूर्वकृत कर्म के विपाकों का उदय समझकर शान्तचित्तता बनाए रखनी चाहिए।

इस प्रकार के अनेक उत्कृष्ट चिन्तनों के द्वारा अपनी उदार क्षमावृत्ति का परिचय देना चाहिए।

क्षमा के साधना के सन्दर्भ में पाँच बिन्दु अनिवार्यत: ध्यातव्य है-

१. दोष का सद्भाव-असद्भाव
२. क्रोध के दोष।
३. बाल स्वभाव।
४. स्वकर्मोदय।
५. क्षमागुण।

❊ दोष का सद्भाव-असद्भाव ❊

जब कोई भी व्यक्ति हमें अप्रिय कहे हमारे दोषों का उपख्यान करे तो यह विचार करना चाहिए कि यह व्यक्ति जो दोष बता रहा है, वे हमारे अन्दर हैं अथवा नहीं?

यदि विचार करने पर हमें लगे कि ये दोष हमारे अन्दर विद्यमान हैं तो सोचिए वह झूठ कहाँ कह रहा है? उस पर ग्रोध करना कैसे उचित हो सकता है? नहीं कदापि नहीं। यदि विचार करने पर मालूम हो कि ये दोष हमारे अन्दर नहीं है तो उसका अज्ञान समझ कर क्षमा करना चाहिए। उसकी अज्ञानता को ही दोषी समझना चाहिए उसका (व्यक्ति का) दोष नहीं । यदि क्रोधावेश में, उन्मत्तदशा में कोई कुछ बक रहा है तब भी हमें अपनी विवेक जागृति का परिचय देते हुए क्षमादान देना चाहिए। वस्तुत: यदि उस पर क्रोध किया भी जाए तो वह नितान्त निरर्थक ही सिद्ध होगा। क्षमाभाव ही सर्वोत्तम है।

✣ क्रोध से उत्पन्न होने वाले-द्वेष, क्लेश, कलह, वैमनस्य शरीर हानि, हिंसा, स्मृति भ्रंश(विवेक का नाश) तथा व्रतों के विनाश के सन्दर्भ में तत्काल विचार करना चाहिए। क्रोध, शरीररस्थ भंयकर शत्रु है जबकि 'क्षमा' विश्वमैत्री एवम् अहिंसा का अमर सन्देश।

क्रोध से बाह्य जीवन पर, अपने शरीर पर तथा आध्यात्मिक जीवन पर विपरीत असर होता है-

१. बाह्यजीवन में नुकसान -

क्रोध के आवेश में जीवात्मा अन्य के साथ द्वेष करता है। परिणाम स्वरूप दोनों में परस्पर वैमनस्य भावना जागती है। दोनों का जीवन अशान्त हो जाता है। क्रोधित व्यक्ति का विवेक नष्ट हो जाता है। परस्पर तीक्ष्ण कटु व्यंग बाणों का प्रयोग होता है। निकृष्ट से + निकृष्ट अवर्णवाद बोली का विषय बनता है। क्रोधावेश उपकारी के उपकार को भुला देता है। सर्वथा अयोग्यवर्तन का नग्ननृत्य प्रारम्भ हो जाता है। ऐसा करने से अपनी प्रतिष्ठा को धक्का, कलंक लगता है। परिणाम स्वरूप समाज में कुटुम्ब में या सम्प्रदाय में महत्व नहीं रह जाता है। क्रोधी असंयत भाषी कहीं आदर प्राप्त नहीं कर सकता सर्वत्र उसे पद-पद पर अनादर प्राप्त होने लगता है।

क्रोध रूपी अग्नि, प्रीति, विनय तथा विवेक को भी जलाकर राख कर देती है। क्रोधी का सारा जीवन नीरस हो जाता है। क्रोध का परिणाम पश्चात्ताप एवं विषाद ही होता है। आन्तरिक

जीवन की तो बात ही क्या करें। क्रोध से बाह्यजीवन के नैतिक सभी आधार टूट जातें है। जीवन, मूल्यहीन हो जाता है।

२. शारीरिक नुकसान –

क्रोध, शरीर के लिए भी घातक होता है। मानसिक रोग विशेषज्ञों का कहना है कि अनेक सप्ताहों तक कठिन परिश्रम करने से शरीर जितना आहत, क्षतिग्रस्त होता है उससे अधिक एक बार क्रोध करने से हो जाता है। क्रोध, हमारे रूधिर में विषाक्तता लाता है। क्रोध, जठराग्नि को मन्द कर देता है। इस क्रोध के कारण मन्दाग्नि, अजीर्ण तथा क्षय आदि रोग उत्पन्न होतें है।

क्रोधित माता का स्तनपान करने वाले शिशु पर भी विपरीत असर पड़ता है। वहीं दीर्घजीवी नहीं रहता। भोजन के समय क्रोधावेश से परिपूर्ण व्यक्ति अजीर्ण के शिकार होतें है। अजीर्णता, आयष्य क्षीण कर देती है। क्रोधी व्यक्ति अपनी सारी खुशियाँ गुमा बैठता है।

३. आध्यात्मिक नुकशान –

क्रोध करने से आध्यात्मिक दृष्टि से सर्वाधिक नुकसान होता है। क्रोधी की आत्म-परिणति अशुभ बन जाती है। फलत: कठोर साधना करने पर भी यथोचित उत्कृष्ट लाभ नहीं मिल पाता है। क्रोध से समुत्पन्न अशुभ आत्म परिणति के कारण नित्य नये, नये कर्म बन जातें है तथा पूर्व बद्ध शुभकर्म भी अशुभ बन जातें है।

क्रोधी व्यक्ति को वैमनस्य व क्रूरता की भावना के कारण किसी प्राणी की हिंसा करने में भी देर नहीं लगती है।

क्रोध के आवेश में 'मैं कौन हूँ'? यह भान भी क्रोधी को नहीं रहता। मेरा कर्त्तव्य क्या है ?अकर्त्तव्य क्या है? इत्यादि विवेक का विनाश होते ही साधक अपने व्रतों का भङ्ग कर डालता है।

अविवेक पूर्वक बोल मूढजीव (बालजीव) का स्वभाव है। ऐसा मानकर बालजीव के प्रति क्षमा भाव रखना नितान्त आवश्यक है। यदि कोई व्यक्ति आपकी परोक्षनिन्दा करता है तो भी आपको आवेश में आने की कोई आवश्यकता नहीं है। किसी दूसरे के द्वारा यह बात सुनकर कि वह आपकी 'परोक्ष निन्दा' करता है, असंयत होना कैसे ठीक कहा जा सकता है? परोक्ष निन्दक के प्रति भी सदैव क्षमा भावना बनाये रखें। साथ ही यदि परोक्ष निन्दा के रूप में कही जा रही बुराई का यदि लेशमात्र भी अपने में हो तो आत्मावलोकन करके आत्मपरिशोधन की दिशा में सबल प्रयत्न करें- यही विवेकी व्यक्ति की पहचान है। धीरता व क्षमा सफलता की कुंजी है।

कुछ लोग प्रत्यक्ष में ही यदि निन्दा करतें है, दोषारोपण करतें है तब भी धैर्य पूर्वक, शालीनता से उनका निवारण, स्पष्टीकरण करना चाहिए। मूढस्वभावी व्यक्ति भी साधक की साधना

---

१. श्री उदयरत्न जी महाराज ने भी क्रोध की सज्ज्ञाय में कहा है –
क्रोधे क्रोडपूरवतणुं संजम फल जाय।
क्रोध सहित तप जे करे, ते लेखे नवि थाय॥

को अप्रत्यक्ष रूप सें सुदृढ़ बनातें है। इसीलिए तो कहा है-

'निंदक नियरे राखिये, आंगन कुटी छवाय।'

निन्दक के प्रति क्रोध करना, साधक के लिए अच्छा नहीं है। निन्दक पर क्षमा भाव रहना, साधक की उत्कृष्टतसाधना का नमूना है।

४. स्वकर्मोदय -

जब क्रोध का कोई निमित्त साधक के समक्ष उपस्थित हो तो विचार करना चाहिए कि यह तो स्वयं के कर्मों का उदय है। प्रस्तुत विषय या व्यक्ति तो निमित्त मात्र है। उसके प्रति मुझे क्रुद्ध नहीं होना चाहिए । मैनें जो कर्म किएं है, उसके परिणाम स्वरूप यह निमित्त रूप में आया है। मेरा अशुभ कर्म ही मुझे सता रहा है तो इस निरपराध पर मैं क्रोध क्यों करू? यह भावना साधक की साधना में आध्यात्मिक उत्कर्ष लाती है। स्वकर्मोदय मानकर, आत्मगर्हा, आत्मनिन्दा करते, हुए क्रोध के निमित्तों पर लेशमात्र भी क्रोध, द्वेष, वैमनस्य न रखते हुए साधक क्षमा(अहिंसा) के उन्नत शिखर पर आरूढ़ होने लगता है।

५. क्षमा गुण -

क्षमा भावना की गुण गौरवमयी परम्परा का, महापुरूषों के जीवन में समागत विभिन्न क्षमा के उत्कृष्ट दृष्टान्तों का चिन्तन, मनन तथा अनुवर्तन करते रहने से भी क्रोध का आवेग, क्रोध का संवेग रूक सकता है।

क्षमा भावना की सतत आराधना से स्व-पर शान्ति का अबाध, निरूपद्रव मार्ग प्रशस्त होता है।

क्षमा की साधना से पूर्वबद्ध अशुभ कार्मो की निर्जरा होती है। सद्गुण सौरभ से आत्म-सदन महक उठता है।

क्षमा समस्तों का आधार है। क्षमा के बिना समस्त गुण, निराधार होने के कारण सुशोभित नहीं हो पातें है। कहा भी है-

'क्षान्तिहीना गुणाः सर्वे,
न शोभन्ते निराश्रयाः।'

(उप.भव.)

---

१. क्रोधाद् भवति संमोहः, संमोहात् स्मृति विभ्रमः।
स्मृति भ्रंशाद् बुद्धिनाशों, बुद्धिनाशात् प्रणश्यति॥
(गीता अ.२, श्लोक ६३)

अर्थात् क्रोध से मूढ़ता आती है। मूढ़ता से स्मण शक्ति का विनाश होता है। स्वणशक्ति के विनाश से, बुद्धि -विवेक का विनाश हो जाता है। विवेक का विनाश होते ही साधक की साधना भंग हो जाती है, साधक स्वयं विनष्ट हो जाता है।

२. मार्दव - मार्दव = मद, मान का निग्रह।

चित्त में मृदुता तथा व्यवहार में नम्रता वृत्ति को **'मार्दव'** कहते हैं।

मार्दव गुण को धारण करने से या इसकी ओर अहर्निश चित्तवृत्ति को आकृष्ट करने से जाति, कुल, रूप, ऐश्वर्य, श्रुतविज्ञान, इष्टवस्तु की प्राप्ति तथा वीर्यादि अष्ट प्रकारक मदों से होने वाली चित्त की उन्मत्ता, अहंता इत्यादि दोषों का निग्रह होता है।

इसका विशद स्पष्टीकरण इस प्रकार समझा जा सकता है- बाह्य तथा आभ्यन्तर सम्पत्ति का मद बाह्य तथा अभ्यन्तर सम्पत्ति का मद नहीं करना, अहंकार वृत्ति नहीं रखना, अपने से श्रेष्ठ जनों के प्रति श्रद्धा, विनय बहुमान तथा छोटों के प्रति वात्सल्य रखना, इत्यादि व्यवहार नियमों के पालन से 'मार्दव' की अभिव्यक्ति होती है ।

'मैं कुछ हूँ ' ऐसी वृत्ति बड़ों के प्रति उद्धत बर्ताव, बड़ों की उपेक्षा, स्वप्रशंसा तथा परनिन्दा इत्यादि से मद-मान की अभिव्यक्ति होती है।

मद और मान - ये दोनों शब्द अहंकार के स्वरूप होते हुए भी अर्थ की दृष्टि से कुछ भिन्नता रखतें है। जैसे किसी भी प्रकार- 'मैं कुछ हूँ' ऐसी वृत्ति 'मान' कहलाती है। किन्तु उत्तम जाति आदि के कारण 'मैं कुछ हूँ '-ऐसी वृत्ति 'मद' कहलाती है।

जाति कुल, रूप, ऐश्वर्य, विज्ञान, श्रुत, लाभ तथा वीर्य (शक्ति) के रूप में मद आठ प्रकार है।

- ✦ माता का वंश-जाति है।
- ✦ पिता का वंश-कुल है।
- ✦ शारीरिक सौन्दर्य रूप है।
- ✦ धन-धान्य आदि बाह्य सम्पत्ति-ऐश्वर्य है।
- ✦ औत्पातिकी आदि चार प्रकार की बुद्धि विज्ञान है।
- ✦ जिनोक्त शास्त्र के अध्ययन से प्राप्त ज्ञान श्रुत है।
- ✦ इष्ट वस्तु की प्राप्ति को लाभ कहते है।

मद एवं मान का परित्याग करने से मादर्वधर्म विकसित होता है। जीवात्मा मान-मद के कारण स्वप्रशंसा तथा पर निन्दा में निरत रहता है। इसके कारण इस लोक में अनेक अनर्थो को प्राप्त कर अशुभ कर्मो से प्रवत्त होकर परलोक में भी अनर्थपरिणाम भोगता है। मान-मद के कारण ही अहंकारी जीवात्मा, अन्य कथित हितकारी बातों को नहीं सुनता है या सुनकर अनसुनी कर देता। सुनकर अपनाने की बात तो बहुत दूर ही रहती है।

मुमुक्षु जनों को मद एवं मान का प्रयत्न पूर्वक परित्याग करना चाहिए।

३. आर्जव - आर्जव=ऋजुता (सरलता)।

मन, वचन तथा काया की प्रवृत्ति में सरलता आना **'आर्जव'** कहलाता है।

विचारना, कहना तथा करना-इन तीनों की विशुद्ध सरलता को आर्जव कहते हैं। कूट-कपटता, शठता तथा मायाचारिता से रहित विशुद्ध विनम्र वृत्ति से आर्जव धर्म की प्राप्ति होती है।

४. शौच - लोभ का अभाव - अनासक्ति भाव को शौच कहते है। धर्म के उपकरणों पर भी ममत्वभाव अर्थात् आसक्ति भाव नहीं रहना चाहिए। लाभ आसक्ति से जीवात्मा कर्म रूपी मल से मलिन होता है। लोभ की आसक्ति से जीवात्मा शुद्ध बनता है। अलोभ=अनासक्ति, वस्तुत: शौच (शुचि) है।

५. सत्य - मिथ्या दोषरहित हितकर वचन को 'सत्य' कहते हैं। अर्थात् आवश्यक होने पर ही स्व-पर हितकारी, शुद्ध तथा संक्षिप्त वचन बोलना चाहिए।

६. संयम - मन, वचन, काय-नामक त्रिकरण योगों का निग्रह करना ही **'संयम'** कहलाता है।

सामान्यत: संयम के सत्तरह भेद हैं- पाँच अव्रतरूप आस्रवों का त्याग, पाँच इन्द्रियों का जय (जीतना) चार कषायों का परित्याग तथा मन, वचन काय दण्ड से निवृत्ति।

अथवा पृथ्वीकाय, अप्काय, तेजकाय, वायुकाय, वनस्पतिकाय, द्वीन्द्रिय (बेइन्द्रिय) त्रीन्द्रिय (ते इन्द्रिय) चतुरिन्द्रिय (चउरिन्द्रिय), पंचेन्द्रिय, प्रेक्ष्य, उपेक्ष्य अपह्यत्य, प्रभुज्य, काया, वचन मन तथा उपकरण- इस प्रकार सत्तरह प्रकार का संयम होता है।

१. पृथ्वीकाय के जीवों को दु:ख हो - ऐसी प्रवृत्ति को मन, वचन और काया से करना, कराना या अनुमोदन करने का त्याग करना ही **'पृथ्वीकाय संयम'** कहलाता है।

२-९. इस प्रकार पंचेन्द्रिय संयम तक भी समझना चाहिए।

१०. नेत्र से निरीक्षण करके विवेक पूर्वक उठना-बैठना-इत्यादि सजग चेष्टा को **'प्रेक्ष्य संयम'** कहते है।

११. साधुओं को शाद्धोक्त अनुष्ठानों में जोड़ना तथा स्वक्रिया के व्यापार से रहित गृहस्थ की उपेक्षा-करना **'उपेक्ष्य संयम'** कहलाता है।

१२. अनावश्यक वस्तु का त्याग(अग्रहण) अथवा जीवादियुक्त अभक्ष्य भिक्षा आदि को परठव देना (त्याग देना) **'अपहृत्य संयम'** कहलाता है।

१३. रजोहरण (ओघा) से प्रमार्जन करके बैठने आदि की क्रिया को **'प्रमृज्य संयम'** कहते हैं।

१४-१६. अशुभ यागों से निवृत्ति तथा शुभयागों में प्रवृत्ति करना, **'काय संयम'** कहलाता है।

१७. पुस्तकादि उपकरण भी जरूरत के अनुसार ही रखना तथा उनका सादर संरक्षण करना इत्यादि **'उपकरण संयम'** कहलाता है।

ये संयम के सत्तरह भेद है।

७. तप – शरीर तथा इन्द्रियों को तप द्वारा संयमित करके 'आत्मशुद्धि' करने वाला तत्व 'तप' कहलाता है। तप दो प्रकार का होता है- आभ्यान्तर और बाह्य। इसका वर्णन सूत्र १९-२० में विशद रीति से करेंगे।

८. त्याग – बाह्य अभ्यन्तर उपधि शरीर तथा असन-पनादि आश्रयीभूत दोषों का परित्याग करते हुए योग्य पात्र को ज्ञानादि सद्गुण प्रदान करना 'त्यागधर्म' कहलाता है।

अर्थात् बाह्य तथा अभ्यन्तर उपधि में भावदोष का, मूर्छा का त्याग, **त्यागधर्म** है। अन्न पान-बाह्य उपधि है। देह-शरीर अभ्यन्तर उपधि है तथा क्रोधादि कषाय अभ्यन्तर उपधि है। अनावश्यक उपकरणों का परित्याग करना- अत्यन्त सीमित उपकरणों का अवलम्बन-अनासक्ति भाव से लेना त्याग का अभिन्न अंङ्ग है।

९. आकिञ्चन्य – देह पर तथा साधना के उपकरणों पर ममता का अभाव आकिञ्चन्य धर्म है।

अर्थात् शरीर, वस्तु (पुस्तकादि) शिष्य आदि में किसी प्रकार का ममत्व न रखना **आकिञ्चन्य धर्म** कहलाता है।

ममत्व परिग्रह है तथा ममत्व का परित्याग- आकिञ्चन्य है। आध्यात्मिक दृष्टि से ममत्व तथा अममत्व के आधार पर ही वस्तु के होने या न होने का निर्णय होता है। जिसे वस्तु पर तो क्या अपने शरीर पर भी लेशमात्र मोहन हो वह **'आकिञ्चन्य'** की श्रेणी में आता है। भले ही उसके पर संयम की आराधना में अत्यन्त सहायक कुछ उपकरण विद्यमान हों।

१०. ब्रह्मचर्य – ब्रह्मर्च का साधारण प्रचलित अर्थ है- मैथुनवृत्ति का परित्याग। यद्यपि ब्रह्म यानी आत्मा में चर्य=रमण करना ही **'ब्रह्मचर्य'** है।

इष्ट वस्तु में राग का और अनिष्ट वस्तु में द्वेष का त्याग करके आत्मा में रमणकरना ब्रह्मचर्य है। ऐसा होते हुए भी यहाँ मैथुनवृत्ति का त्याग विवक्षित है।

मैथुनवृत्ति के त्याग रूप ब्रह्मचर्य का पालन करने के लिए वसति आदि नव के त्याग स्वरूप नवगुप्तियों का (नौ वाडों का) तथा ब्रह्मचर्य व्रत की पाँच भावनाओ का का पालन अनिवार्य है।

पाक्षिक अतिचार में चतुर्थ महाव्रत के विषय में (ब्रह्मचर्य के विषय में) नौ वाडों के नाम का निर्देश गाथा द्वारा स्पष्ट है -

वसहिकह निसिइंदिय, कुड्डितरपुव्वकीलिए पणिए।
अइमायाहार विभुसणाइं नवबंभचेर-गुत्तीओ॥

भावार्थ - वसति आदि नौ गुप्तियों(नौ वाडों) का भाव सारांश इस प्रकार है।

१. **वसति** - जहाँ स्त्री, पशु, नपुंसक रहते हो- ऐसी वसति (आवास) में नहीं रहना चाहिए।

२. **कथा** - कामवर्धक स्त्री कथा नहीं करनी चाहिए।

३. **निषद्या** - जिस स्थान पर स्त्री बैठी हुई हो उस स्थान पर उस स्त्री के उठने के ४८ मिनट, तक पुरूष (साधक) को नहीं बैठना चाहिए।

४. **इन्द्रिय** - स्त्री के अंगोपांगों का, इन्द्रिय का निरीक्षण नहीं करना चाहिए।

५. **कुड्यान्तर** - जहाँ दीवार के सहारे से, पास के घर (कक्ष) आदि से पति-पत्नि के संभोग सम्बन्धी आवाज, या रत्यालाप सुनाई दे रहें हो, उस स्थान का त्याग करना चाहिए।

६. **पूर्वक्रिडित** - गृहस्थावस्था में की गई कामक्रीड़ा का स्मरण भी नहीं करना चाहिए।

७. **प्रणीत आहार** - अत्यन्त स्निग्ध तथा मधुर दूध, दही आदि के आहार का त्याग करना चाहिए।

८. **अप्रणीत आहार** - अतिमात्र भोजन का भी त्याग करना चाहिए। अप्रणीत आहार का तात्पर्य अतिमात्र भोजन से है। अर्थात् ऊनोदरी व्रत का सदैव पालन करना चाहिए।

९. शरीर तथा उपकरणों की साज-सज्जा की अभिलाषा भी नहीं रखनी चाहिए।

उक्त नव (नौ) गुप्तियों का अहर्निश परिपालन नितान्त आवश्यक है। ब्रह्मचर्य की पाँच भावनाओं का परिपालन भी अनिवार्यत: होना चाहिए॥८-६॥

धर्मानन्तरं संवरकारणेष्वनु प्रेक्षोल्लेखत्वात् अनुप्रेक्षारूपेण द्वादश भावनास्वरूपं विशदीकरोति-

卐 सूत्रम -

अनित्याशरण संसारैकत्वान्यत्वाशुचित्वास्त्रव संवर निर्जरा-
लोकबोधिदुर्लभ - धर्मस्वाख्याततत्त्वानुचिन्तनमनुप्रेक्षा॥८-७॥

卐 सुबोधिका टीका 卐

अनित्याशरणेति। द्वादशानुप्रेक्षा भवन्ति, तासां नामानि चथयम् अनित्यानुप्रेक्षा, अशरणानुप्रेक्षा, संसारानुप्रेक्षा, एकत्वानुप्रेक्षा, अन्यत्वानुप्रेक्षा अशुचित्वानुप्रेक्षा, आस्रवानुप्रेक्षा, संवरानुप्रेक्षा, निर्जरानुप्रेक्षा, लोकानुप्रेक्षा, बोधिदुर्लभानुप्रेक्षा, तथा धर्मस्वाख्यातत्त्वानुप्रेक्षा चेति।

तात्त्विकदृष्ट्या सूक्ष्म विचारोऽनुप्रेक्षा । एता द्वादशानुप्रेक्षा लोकेषुशाद्धेषु च द्वादश भावनानामभि: प्रसिद्धा: सन्ति। एताभि: द्वादश भावनाभि: क्रोध-मान-माया-लोभादीनां कषायाणां रागद्वेषादि कुत्सित प्रवृतीनां निरोधो भवति। एतस्मादेव कारगात एता: भावना: जीवनशुद्धि कारिका: सन्ति। इमे संवरोपायस्वरूपा: सदैव साधकैरनुष्ठेया: ।

*** सूत्रार्थ** - अनित्य, अशरण, संसार, एकत्व, अन्यत्व, अशुचित्व, आस्रव, संवर, निर्जरा, लोक, बोधिदुर्लभ तथा धर्मस्वाख्या तत्व का पुन: पुन: चिन्तन करना ही **'अनुप्रेक्षा'** है।

* विवेचनामृत *

अनुप्रेक्षा के बारह भेद है-

१.	अनित्यानु प्रेक्षा	२.	अशारणानुप्रेक्षा
३.	संसारानुप्रेक्षा	४.	एकत्वानुप्रेक्षा
५.	अन्यत्वानुप्रेक्षा	६.	अशुचित्वानुप्रेक्षा
७.	आस्रवानुप्रेक्षा	८.	संवरानुप्रेक्षा
९.	निर्जरानुप्रेक्षा	१०.	लोकस्वरूपानुप्रेक्षा
११.	बोधिदुर्लभानुप्रेक्षा	१२.	धर्मस्वाख्यातानुप्रेक्षा

अनुप्रेक्षा का तात्पर्य है- गहन तत्त्विक विचार, जो बारह भावनाओं के नाम से जैन संस्कृति में प्राय:लोक विदित है। इसके द्वारा राग-द्वेष कलुषित प्रवृत्तियों का निरोध होता है। अत: संवर के उपाय स्वरूप बारह भावनाएं परमोपयोगी है।

बाह्य एवम् आभ्यन्तर समस्त प्रकार के प्रदार्थों का अनित्य आदि के द्वारा चिन्तन/चितवन करना ही अनुप्रेक्षा है।

अनित्यादि द्वादश अनुप्रेक्षाओं (भावनाओं का संक्षिप्त) वर्णन इस प्रकार है-

१. अनित्यानुप्रेक्षा - किसी भी प्राप्त वस्तु के वियोग से दु:ख न हो । अत: उस पर से ममत्व हटाने के लिए, चाहे शरीर हो, घर हो या कुटुम्ब-कबीला आदि हो। वे सभी अनित्य है, विनाशवान् हैं।

अर्थात् कुटुम्ब, कचंन, कामिनी, काया कीर्ति-इत्यादि पदार्थों की अनित्यता का चिन्तन करना ही अनित्य भावना है। संसार में जहाँ संयोग है वहाँ अवश्य वियोग है। इस प्रकार सर्वप्रकार का संयोग अनित्य है। संसार के समस्त सुख कृत्रिम होने के कारण विनाशशील है।केवल जीवात्मा और जीवात्मा का सुख ही नित्य है।

फल - इस प्रकार की विचारणा से बाह्य वस्तु पर अभिष्वग- ममत्व भाव नहीं होता। इससे जब वस्तु /पदार्थों का वियोग होता है तब दु:ख का अनुभव नहीं होता है।

ऐसा चिन्तन करने से तत्वियोग जनित दु:ख नहीं होता, इसको ही अनित्यानुप्रेक्षा (अनित्यभावना) कहते हैं।

२. अशरणानुप्रेक्षा - संसार में हमारी रक्षा करने वाली शरण नहीं है। कोई हमारा रक्षण करने वाला, हमें शरण प्रदान करने वाला नहीं है। इसे ही **'अशरणभावानुप्रेक्षा'** (अशरणभावना) कहते हैं।

जैसे-महारण्य में क्षुधातुर सिंह द्वारा सताये हुए मृग बच्चे का कोई सहायक नहीं होता है, वैसे संसाररूपी महारण्य में परिभ्रमण करते हुए जन्म, जरा और मृत्यु आदि अनेक व्याधियों से ग्रस्त जीवात्मा का धर्म के बिना कोई शरण नहीं है।

अर्थात् जीवात्मा को रोगादि तथा अन्य कोई दु:ख आने पर भौतिक साधनों के स्नेही, दु:ख से बचाने के लिए समर्थ नहीं होते तथा अनेक बार तो देखने में ऐसा आता है कि वे तथाकथित स्नेहीजन अधिक दु:ख-सवर्धन के कारण बनते है। वस्तुत: ऐसे समय पर तो देव, गुरू और धर्म ही रक्षण करते हैं, सान्त्वना प्रदान करतें हैं।

फल - इस संसार में मैं 'अशरण हूँ' इस प्रकार विचार करते हुए संसार के भय उत्पन्न होने से संसार पर और संसार के सुखों पर अनुराग नहीं होता है तथा जगत में श्री जिनशासन ही शरणस्वरूप है। ऐसा ध्यान में आने से उसकी आराधना के लिए प्रवृत्ति होती है। अर्थात् भावोल्लास प्रगट होता है। इस विचार श्रेणी को ही अशरणभावना (अनुप्रेक्षा) कहते हैं।

३. संसारानुप्रेक्षा - संसार भावना अर्थात् संसार स्वरूप का चिन्तन करना। यह संसार हर्ष विषाद, सुख तथा दु:खादि द्वन्द्व विषयों का उपवन (बगीचा) है। इस अनादि जन्म-मरण की घटमाल में जीवात्मा का कोई वास्तविक स्वजन या परजन नहीं है। जन्मान्तर में सब प्राणियों के साथ, अनेक प्रकार का सम्बन्ध हो चुका है। केवल राग-द्वेष और मोह सन्तप्त जीवात्माओं को विषय-तृष्णा के कारण परस्पर आश्रय दु:ख का अनुभव होता है।

इस संसारी तृष्णाओं को त्यागने के लिए सांसारिक वस्तुओं से उदासीन रहना ही संसार भावना है।

उक्त संसार भावना का विशेष स्पष्टीकरण करते हुए कहा है कि- जीवात्मा नरक, तियञ्च, मनुष्य और देवगति-इन चार गति स्वरूप-इस संसार में परिभ्रमण करते हुए अनन्त दु:खों को सहन करते है।

इस संसार के किसी भी कोने में तथा संसार की कोई वस्तु में आंशिक भी सुख नहीं है। इतना ही नहीं मात्र दु:ख ही दु:ख है ।

यह संसार विविध दु:ख जालों का महारण्य है। अष्टकर्म के संयोग से जीवात्मा को संसार में परिभ्रमण अवश्य करना पड़ता है क्योंकि कर्म का संयोग राग और द्वेष है। अर्थात् संसार के दु:खों से बचना हो तो राग-द्वेषादिक दोषों का विनाश करना चाहिए।

फल - राग और मोह के वश में वर्तमान जीवात्मा चौरासी लाख जीव योनि में परिभ्रमण करके परस्पर भक्षण, वध, बन्ध, असत्य-आरोप तथा अप्रिय वचनादिक से तीव्र दु:खों को अनुभूत करतें है। अत: यह संसार दु:ख स्वरूप ही है ।

संसार भावना से संसार का भय उत्पन्न होता है। इससे अध्यात्म प्रमुख स्तम्भ रूप निर्वेद गुण उत्पन्न होता है। एतत् सम्बन्ध में भाष्यग्रन्थ में कहा है-

'सांसारिक सुख जिहासालक्षणो निर्वेदः।'

अर्थात् संसार सुख के विनाश की इच्छा निर्वेद गुण करता है। निर्वेद गुणसम्पन्न जीवात्मा अपने संसारचक्र का आत्यन्तिक विनाश करने का सम्यक् प्रयत्न करता है।

४. **एकत्वानुप्रेक्षा** - संसार में जीवात्मा अकेला ही जन्म लेता है और अकेला ही मृत्यु प्राप्त करता है। अकेला ही अपने किये हुए कर्मरूपी बीज सुख-दु:खादि फलों को अनुभव करता है। रोग-व्याधि, जन्म जरा और मरणादि दु:खों को दूर करे, ऐसा कोई भी स्वजन सम्बन्धी नहीं है। मुमुक्षु जीवों को राग-द्वेष के प्रसंगों से निर्लेप होने के लिए जीवात्मा अकेला और असहाय है। अर्थात् जीव अकेला ही होने के कारण निज शुभाशुभ कर्मों का फल भी अकेला ही भोगता है। अन्य स्वजन सम्बन्धी, उसके कर्मों के फल को बांट करके भी नहीं ले सकते है।

परलोक में से जीवात्मा यहाँ अकेला ही आता है तथा यहाँ से परलोक गमन भी अकेला ही करता है। अन्य कोई भी उसके साथ परलोक नहीं जाता है। भले ही जीवात्मा ने अपने स्वजन-सम्बन्धियों के लिए पाप किए हो तो भी पापों का फल तो अपने को (जीवात्मा को) ही भोगना पड़ता है। उसमें सम्बन्धियों की कोई भागीदारी नहीं होती है।

फल - अपने अन्त:करण (हृदय) को एकत्व भावना से वासित बनाने से स्वजन का राग, आसक्ति मिटता है तथा पर जन के प्रति द्वेष भावना भी दूर हो जाती है। इस प्रकार निस्संग भाव आने से मोक्ष के लिए विशेष प्रवृत्ति सबल होती है।

५. अन्यत्वानुप्रेक्षा – जड़ पदार्थ अपनी आत्मा से भिन्न है क्योंकि आत्मा का स्वभाव-चैतन्य है।

ये भौतिक पदार्थ, यह शरीर-आत्मातिरिक्त सब कुछ मुझ से (आत्मा से) अन्य है ऐसी विचारणा ही अन्यत्वानुप्रेक्षा (भावना) कहलाती है।

मनुष्य मोहवेश के कारण शरीर तथा अन्य चीज-वस्तुओं की प्राप्ति तथा अप्राप्ति में ही अपनी उन्नत तथा अवनत दशा को मान कर यथार्थ कर्तव्य भूल जाता है।

आत्मा से देहादि सभी अन्य पदार्थ भिन्न है। आत्मा नित्य है, वे अनित्य है। इन्द्रियादि अन्य पदार्थ जड़ है। मैं चैतन्य हूँ (आत्मा चेतन है) तथा अनन्त अविनाशी रूप हूँ-इत्यादि सांसारिक वस्तुओं की अनित्यता तथा आत्मा की नित्यता का चिन्तन करके अन्यत्व भावना सुदृढ़ होती है।

उक्त अन्य भावना का विशेष वर्णन इस प्रकार है -

विश्व के समस्त प्राणी तथा वस्तुएं एक दूसरे से भिन्न हैं। कर्म योग से ये परस्पर एकत्र होते है और फिर जीव का इन से अलगाव भी हो जाता है। जैसे-भिन्न भिन्न देश से आए हुए मुसाफिर, अल्प समय तक मुसाफिर खाने में साथ रहकर फिर बिछड़ जातें है वैसे ही जीवात्मा के सम्बन्धी भी समयानुसार बिछड़ जातें है।

देह भी आत्मा से भिन्न है। शरीर (देह) विनाशी है। जबकि जीवात्मा अविनाशी है, अजर अमर है। शरीर जड़ है, आत्मा चेतन है। शरीर बदलते रहतें है किन्तु जीवात्मा तो एक ही रहता है। इस संसार में परिभ्रण करते हुए अद्यावधि (आज तक) अनन्त शरीर बदल चुके है किन्तु जीवात्मा तो वही (एक ही) है। शास्त्रों में शरीर और आत्मा की भिन्नता अनेक प्रमाणों से प्रमाणित है।

फल – इस अन्यत्व भावना से देह-शरीर आदि जड़ पदार्थों पर स्वजन इत्यादि चेतन पदार्थों पर राग न हो तथा पूर्वकृत(बद्ध) राग दूर हो तथा मोक्षार्थ प्रवृत्ति हो-यही उत्तम श्रेयस्कर लक्ष्य सधता है ।

६. अशुचित्वानुप्रेक्षा – देह-शरीर में अशुचि का अर्थात् अपवित्रता का विचार करना-अशुचिभावना है।

सबसे अधिक मोह शरीर पर होता है। इस मोह को दूर करने के लिए देह की अपवित्रता का चिन्तन/चितवन करना ही अशुचित्वभावना है। यह शरीर अशुचि (अपवित्रता) से उत्पन्न होता है, अशुचिका स्थान है-शरीर। यह सम्पूर्ण शरीर अशुचिमय है। यह चितवन, यह दृष्टि अशुचित्वानुप्रेक्षा कहलाती है।

शरीर, अशुद्ध, अपवित्र है। उसके सात कारण है। सात कारणों के नाम इस प्रकार है-

१. बीज अशुचि २. उपष्टंभ अशुचि ३. उत्पत्ति अशुचि ४. उत्पत्तिस्थान अशुचि ५. अशुचिपर्दार्थों का नल ६. अशुचिकारक।

इस प्रमुख सात कारणों का संक्षिप्त वर्णन -

१. बीज अशुचि - शरीर माता-पिता के रज-वीर्य-संयोग से उम्पन्न होता है। रूचिर (रज) और वीर्य ये दोनों पदार्थ अशुचिमय है। शरीर का बीज (उत्पत्ति का कारण) अशुचि होने से शरीर अशुचि है।

२. उपष्टभंग अशुचि - शरीर आहारादिक से परिपुष्ट होता है। आहार मुख-विवर से होता हुआ गले के श्लेष्मा लार से लिपट कर श्लेष्माशय में पहूँचता है। वहाँ श्लेषा (कफ) आहार को प्रवाही रूप में बना होता है। वह प्रवाही अत्यनत अशुचिमय होती है फिर वह (प्रवाही) पित्ताशय में आती है। वहाँ पर वायु से उसके दो विभाग हो जातें है। जितने प्रमाण में प्रवाही का पाचन हो जाता है उतने प्रमाण में उसका रच बनता है तथा जिसका पाचन नहीं हुआ रहता है, खल (नाकाम कचरा) मल-मूत्र इत्यादि अशुचि पदार्थ रूप में उत्सर्जित होता है। प्रवाही आहार में बना हुआ रस शरीर की सात धातुओं में से पहली धातु है। रस से रूधिर दूसरी धातु है। रूधिर में से मांस तीसरी धातु है। मांस से मेद (चर्बी) चौथी धातु है। मेद से अस्थि (हड्डी) पाँचवी धातु है। अस्थि से मज्जा छठी धातु है तथा मज्जा से वीर्य (शुक्र) सातवीं धातु है। ये सात धातु पुरूषों में होती है तथा द्धी में मज्जा से रस (रज) बनता है मात्र यहीं अन्तर है। उभयलिङ्ग धातुएं सात ही होती है।

ये रस इत्यादि अशुद्धि है। इन सप्त धातुओं पर ही शरीर टिकता है। अत: रस इत्यादि सात धातु देह का उपष्टंग (टिकाव) है। रस इत्यादि के अशुचि होने के कारण शरीर अशुचिमय है।

३. उत्पत्ति अशुचि - शरीर स्वयं अशुचि का भाजन (स्थान) है क्योंकि मल-मूत्र इत्यादि अने अशुचि पदार्थो शरीर भरा पड़ा है। वस्तुत: शरीर का निर्माण माता को कुक्षि में होता है। माता का उदर अत्यन्त अशुचि पदार्थों से भरा हुआ है। अतएव शरीर का उत्पत्ति स्थान भी अशुचिमय है।

४. उत्पत्ति स्थान अशुचि - शरीर की उत्पत्ति, जिस स्थान पर होती है, वह भी अशुचिता से परिपूर्ण होता है तथा शरीर स्वयं अशुचिता से भरपूर रहता है। अत: इसे उपत्तिस्थान अशुचिता से भी संयुक्त करते हुए शाद्धों में विवेचित किया गया है।

५. अशुचिपदार्थों का नल - जिस प्रकार नल खुलते ही जल निकलता है वैसे ही शरीर से मल, मूत्र रूपी अशुचि अहर्निश निकलती है। अत: इसे कुछ विवचकों ने अशुचि पदार्थों का नल भी कहा है तथा यह बात यथार्थ है।

६. अशक्य प्रतीकर – यह शरीर की अशुचिता को दूर करने के लिए चाहे कि प्रयत्न किये जाये फिर भी इसकी अशुचिता सर्वथा दूर नहीं होती है। येन, केन प्रकारेण, अथवा सर्वप्रकार से प्रबल प्रयत्न करने पर भी शारीरिक अशुचिता अतिकार्य है। अतएव इसे अशक्य प्रतिकार कहा है।

७. अशुचिकारक – यह अशुद्धि गन्दगी से परिपूर्ण शरीर यत्र, तत्र, सर्वत्र अशुचिता ही फैलाता है। अतएव इसे अशुचिकारक भी कहा है।

अशुचिता के ये प्रमुख सात कारण है। सूक्ष्मता से और भी अनुसंधान करने पर अनेक कारण मनीषियों द्वारा प्रतिपादित किए जा सकते हैं।

आस्रवानुप्रेक्षा – आस्रव (कर्मों का आगमन) के कारण जीव इस संसार में अनादिकात से परिभ्रमण कर रहा है परन्तु कर्मों का आगमन(आस्रव) किन कारणों से होता है, उनके कलूषित कटु परिणाम क्या-क्या है? आस्रव द्वारों को बन्द किये बिना धर्म का सुफल अप्राप्य ही रहता है। आस्रव इस लोक तथा परलोक दोनों में ही अनन्त कष्ट दायक होता है। दु:ख, पीड़ा, अवसाद एवं विषाद के कारण आत्मा शिवसुख से वंचित रहती है। हमारी इन्द्रियाँ जब तक बहिर्मुखी रहकर विभिन्न विषयों के साथ सम्पृक्त रहती है तब तक आस्रव रूक नहीं सकता है। इन्द्रियाँ पाँच है। इनमें प्रत्येक के विशय में इस प्रकार विमर्श प्रकार किया जा सकता है –

त्वगिन्द्रिय – त्वम्=चर्म। हमारे शरीर के ऊपर आवृत चर्म 'त्वक' है। इसे सपशनेन्द्रिय भी कहते है। किसी भी प्रकार की स्पर्शानुभूति इसी इन्द्रिय के कारण होती है। स्पर्शन-सुखानुभूति के चक्कर में फँसकर ही (स्पर्शनेन्द्रिय में आसक्त) हाथी बन्धन में फँसता है तथा स्वतन्त्र विचरण से वंचित होकर पराधीन होकर महावत के अंकुरादि की मार एवं श्रृंखला बन्धन की दर्दभरी अनुभूति करता है। इस प्रकार अनेक उदाहरणों के द्वारा अनुभव सिद्ध है कि अत्यासक्ति पूर्वक स्पर्शेन्द्रिय सुख के अभिलाषियों का इहलोक तथा परलोक बिगड़ जाता है तथा शतधा, सहस्रधा विनिपात(पतन) होता है।

रसनेन्द्रिय – रसना=जिह्वा। जिससे हम रसों का ग्रहण करते हैं, उसे रसनेन्द्रिय कहते है। रसनेन्द्रिय के प्रति अत्याकृष्ट जीवों की भी पूर्ववत् दशा होती है। उनका भी यह भव तथा पराभव दोनों विनष्ट (बेकार) हो जातें है।

रसनेन्द्रिय की लोलुपता के कारण मच्छली काँटे में फँसकर मृत्यु को प्राप्त करती है। रसना के आस्वाद के लिए निरन्तर छटपटाने वाले जीवों की विपत्ति का कारण भी स्वाद लोलुपता ही होती है। अत: ज्ञानियों द्वारा निर्दिष्ट मार्ग का अनुसरण करके रसनेन्द्रिय निग्रह करना चाहिए। अन्यथा विवेक भ्रष्टों का शतधा तपन तो सहज सम्भाव्य है।

घ्राणेन्द्रिय- घ्राण=नासिका(नाक)। जिस इन्द्रिय से सुगन्ध या दुर्गन्ध की उपलब्धि हमें (जीवों को) होती है, उसे घ्राणेन्द्रिय कहते है। घ्राणेन्द्रिय के प्रति अत्यासक्तिभाव रखने वाला जीव

भी संकटापन्न होता है। कहते है कि सर्प को पकड़ने वाले सपेरे ऐसी औषधि को उसके विवर के आस-पास रख देते है, जिसकी सुगन्ध उसे अतिप्रिय होती है। अत: वह उस सुगन्ध के वशीभूत अपने बिल से निकल कर सुगन्धि की ओर मत्त-सा होकर बढ़ता है, किन्तु घ्राणेन्द्रिय की लोलुपता के वशीभूत हुआ वह, सपेरों द्वारा पकड़ लिया जाता है तथा नाना प्रकार के कष्टों की अनुभुति करता है। अत: घ्राणेन्द्रिय निग्रह न करने वाले साधकों की क्या दशा होती है एतदर्भ भी मुहुर्मुहु चिन्तन करना चाहिए। अन्यथा इह लोक तथा परलोक दोनों विनष्ट हो जातें है।

चक्षुरिन्द्रिय - चक्षु= नेत्र (आँख)। जिस इन्द्रिय से हम रूप, रंग का ग्रहण करतें है, उसे चक्षुरिन्द्रिय कहते है। चक्षु=नेत्र इन्द्रिय से विषयाकृष्ट जीव सर्वदा पतित होते हैं। द्धीदर्शन के निमित्त से अर्जुन चोर के समान या फिर दीप की दीप्ति के सौंदर्य पर प्रमत्त बने पतंगो की तरह जीव मृत्यु मुख में निपतित होते हैं। अत: चक्षुरिन्द्रिय से विवेक पूर्वक अवलोकन, दर्शन ही उपयोगी है। आसक्ति=दीवानगी विनिपात का हेतु है, कर्म आस्रव का निधान है। उभयत्र विनाश का मूल है। अत: चक्षुरिन्द्रिय संयम नितान्त अनिवार्य है।

श्रोत्रेन्द्रिय - श्रात्र=कर्ण (कान) कर्णेन्द्रिय से गीत, संगीत की स्वरलहरी, नाद माधुर्य के प्रति अतिशय आकृष्ट जीव तरह-तरह के कष्टों की अनुभूति करता है। वेणुनाद की मधुरिम तान का दीवाना हिरण तो शिकारी के जाल में फँसकर मृत्यु की आगोस में समा जाता है। अत: श्रोत्रेन्द्रिय विवेक, कर्णेन्द्रिय निग्रह नितान्त आवश्यक है।

इस प्रकार आस्रवद्वार रूपी इन्द्रियों के प्रति सचेत रहते हुए इनका सावद्यता का चिन्तन-मनन करते हुए जागृत साघु संवर-साधना का उत्कृष्ट मार्ग प्रशस्त करतें है। आस्रव कर्मों के आगमन का निरोध करने के लिए उत्कृष्ट साधना स्वरूप इन्द्रिय निग्रह सहित आस्रवानुप्रेक्षा नितान्त ध्यातव्य है।

संवरानुप्रेक्षा - आस्रवों का निरोध करना **'सवंर'** कहलाता है। मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, कषाय तथा योग आस्रव के हेतु है। आस्रव के कारणों के परित्याग का विचार करके तप, समिति, गुप्ति चरित्र, परीषहजय धर्मपालन आदि विशुद्ध आचरणों से संवर सधता है। इसलिए संसार परिभ्रमण के कारण भूत आस्रव को रोकने का एक मात्र 'साधन संवर' है। उसकी सचेत होकर अनुप्रेक्षा करना बारम्बार चिन्तन मनन, निरीक्षण करना ही **'संवरानुप्रेक्षा'** है।

निर्जरानुप्रेक्षा - कर्मों का आंशिक क्षय **'निर्जरा'** कहलाता है। निर्जरा का प्रधान कारण द्वादशविध तपश्चरण है। समिति, गुप्ति, श्रमणधर्म, परीषह और उपसर्गों को समभाव से सहना, कषाय-विजय, इन्द्रिय-निग्रह आदि से भी निर्जरा होती है। इस प्रकार निर्जरा के कारण एवं स्वरूप का निरन्तर चिन्तन करना **'निर्जरानुप्रेक्षा'** कहलाता है। इसे जैन धर्मानुयायी निर्जरा भावना के नाम से भी जानते है।

वस्तुत: दु:खों, विपत्तियों, परीष हों तथा उपसर्गों को सम्भावपूर्वक धैर्य से, ज्ञानपूर्वक सहन करने से निर्जरा होती है। अज्ञानपूर्वक निरुद्देश्य, निरर्थक, अधैर्य से रो-रोकर कष्ट सहन से भी उदय में आये हुए पूर्वबद्ध कर्मों की निर्जरा तो होती है किन्तु यह **'अकाम निर्जरा'** है, उससे कर्मक्षय के अनुपात में नये कर्मों का बन्धन और अधिक सुदृढ़ हो जाता है किन्तु ज्ञान पूर्वक सोद्देश्यक, समभावपूर्वक कष्ट सहन, परीषह-उपसर्ग-विजय से 'सकाम निर्जरा' होती है। यही यहाँ उपादेय है।

पूर्वकथित (सकाम) निर्जरानुप्रेक्षा के लिए नाना प्रकार के कर्म विपाकों का (अशुभ कर्मोदय काल में) चिन्तन करना और अकस्मात् पूर्वबद्ध कर्मोदय के कारण प्राप्त कटु विपाक(अति दु:ख) के समय समाधानवृत्ति साधना, समभावपूर्वक सहना जहाँ तक सम्भव हो, वहाँ स्वैच्छिक तप-त्याग पूर्वक संचित कर्म भोगना उचित है।

लोकानुप्रेक्षा - तत्त्वज्ञान की सुदृढ़ता एवं विशुद्धि के लिए षड्द्रव्यात्मक लोक का सतत चिन्तन करना या लोक के संस्थान जड़, चेतन के स्वरूप तथा परस्पर सम्बन्धों-असम्बन्धों का विचार करना भी लोकअनुप्रेक्षा या लोकभावना है।

लोक स्वरूप का उक्तप्रकार से चिन्तन करने से साधु तात्त्विक ज्ञानात्मक विशुद्धि प्राप्त करता है।

बोधिदुर्लभानुप्रेक्षा - चतुर्गति रूप संसार अनादि है। अत: संसारी=प्राणी नरकादिक चारो गतियों में परिभ्रमण करता है। इस परिभ्रन्ति काल में रत्नत्रयी के अतिरिक्त सबकी प्राप्ति अनेक बार हुई है। प्राप्त मोक्ष मार्ग में अप्रमत्तभाव की साधना के लिए दु:ख प्रवाह में मोहनीय कर्मों के तीव्र आघातों को सहते हुए जीव को शुद्ध बोधि और शुद्ध चरित्र मिलना दुर्लभ है। यही माक्ष प्राप्त करने का तथा समस्त दु:खों से मुक्त होने का प्रधान साधन है। इसके बिना सारी तपश्चर्या, व्रतनियमक्रिया आदि का आचरण कर्मक्षय या मोक्षप्राप्ति का करण नहीं है अपितु भवभ्रमण का ही कारण है।

अत: मोक्षमार्ग (रत्नत्रयी) को प्राप्त करके साधु को सदैव बोधि दुर्लभता का चिन्तन करना चाहिए।

कथं तावत् परिषहा: परिषोढ़व्या इत्येव स्पष्टी कर्तु सुत्रयति-

卐 सूत्रम् -

मार्गाच्यवन निर्जरार्थ परिषोढ़व्या परीषहा: ॥९-८॥

卐 सुबोधिका टीका 卐

मार्गच्यवनेति। सग्यमद्दर्शनज्ञान चारित्ररत्नत्रयस्वरूपमोक्षमार्गान्न च्युतिर्भवेत्, उपार्जित कर्मणां च निर्जरा भवेद्-इत्येतदर्थं परिषहा: षोढव्या:। अयं भाव:-य: खलु परीषहाद् भीतिं भजते स

तु मोक्षमार्गं सम्यक् प्रकारेण साधयितुं न क्षमते। न तु तपश्च सुदृढ़तया कर्मनिर्जरार्थं तत्परो भवितुं शक्नोति।

परीषहा इति-। अन्वर्थोऽयं शब्दो जैनागम शाद्धेषु व्यवह्रतः। परिषह्यन्ते-इति परीषहाः। एते परिषहा जेतव्याः मुमुक्षुभिः। अत्र सुत्रे परिषहविजयस्य द्वे प्रयोजने कथिते स्तः मोक्ष मार्गाप्रच्यवः कर्मनिर्जरा च। संवरस्य साधनमपि परिषहविजयेन भवत्येवेति न विस्मर्तव्यम् ।

येन केनापि निमित्तेन कारणेन वा मोक्षमार्गसाधनस्वरूपे तपश्चरणे धर्माराधने च विघ्नबाधोपस्थिति र्जायते सा मुमुक्षुणा सहिष्णुतया षोढव्या ।

*** सूत्रार्थ** - सम्यग् दर्शन-सम्यग्ज्ञान-सम्यग्चरित्रस्वरूप मोक्षमार्ग से पथभ्रष्ट/च्युत न होने के लिए तथा कर्म निर्जरा के लिए परिषहों को समतापूर्वक सहन करना चाहिए॥९-७॥

* विवेचनामृत *

मोक्षमार्ग के साधक को सुदृढ़ निर्भय होना चाहिए। रत्नत्रयी स्वरूप मोक्षमार्ग का साधक परिषहों से कदापि भयग्रस्त नहीं होता है। वह सदैव पूर्णनिष्ठा एवं सम्बल के साथ समागत परिषहों को निरूद्विग्न भाव से समतापूर्वक सहन करता है। प्रस्तत सुत्र में परिषह जीतने के दो प्रयोजन निर्दिष्ट हैं- १. मोक्षमार्गाप्रच्यव २. कर्मनिर्जरा। परिषहविजय के साथ-साथ संवर साधन भी अनिवार्यतः होता ही है- इसे कदापि भूलना नहीं चाहिए।

जिस किसी भी निमित्त/कारण से साधक के मोक्षमार्ग या तपश्चरण आदि साधना में विघ्नबाधा उत्पन्न होती हैं उन्हें सहन करना ही परिषह है। परिषह-विजय-साधारण कार्य नहीं है। साधना के पथ में अनेक बाधायें आती है ।

जैन धर्म एवं दर्शन में साधक पर आने वाली पीड़ा/वेदना के लिए दो पारिभाषिक शब्द प्रचलित है- उपसर्ग और परिषह। उपसर्ग एवं परिषह साधना की कसौटी है। वे तीन प्रकार के होते है- देवकृत, मनुष्यकृत तथा तियञ्चकृत । इन सभी उपसर्गो में साधक को समभाव पूर्वक अविचलित रहते हुए सहन करना चाहिए। साधक को दूसरे प्रकार की पीड़ा पषिहों से होती है। स्वीकृत धर्ममार्ग से अच्युत रहने तथा कर्मबन्धन-निर्जरा के लिए जो वेदना /कष्ट साधक समभाव पूर्वक सहन करता है, उसे परिषह कहते है

समवायांग सूत्र में बाइस परिषह इस प्रका बताए गए हैं- बावीस परीसहा पण्णत्ता तं जहा

१. दिगिंछापरीसहे २. पिवासापरीसहे ३. सीतपरीसहे ४. उसिणपरीसहे ५. दंसमसगपरीसहे ६. अचेलपरीसहे ७. अरइपरीसहे ८. इत्थीपरीसहे ९. चरियापरिसहे १०. निसीहियापरीसहे ११. सिज्जापरीसहे १२. वहपरीसहे १३. जायणापरीसहे

१४. अलाभपरीसहे १५. तणफासपरीसहे १६. जल्लपरीषहे १७. सक्कारपुरक्कारपरीसहे १८. पण्णापरीसहे १९. अण्णापरीसहे २०. दंसण (अंदसण) परीसहे २१. अक्कोसपरीसहे २२. रोगपरीसहे

समवायांग सूत्र स्थान-२२

उत्तराध्ययन सूत्र के दूसरे अध्ययन परीसहप्रविभक्ति का भी एतदर्थ विशद अध्ययन करना चाहिए।

※ द्वाविंशतिःपरीषहाः ※

यद्यप्यनेकाः परीषहास्तथापि प्रमुखतया द्वाविंशतिः परिषहान् वर्णयितुं यतते-

卐 सुत्रम् -

क्षुत्पिपासा शीतोष्ण दंश मशक नाग्न्यारतिद्धीचर्या-
निषद्याशय्याक्रोशवधयाचना लाभ रोगतृण-स्पर्श-
मलसत्कार-पुरस्कार प्रज्ञादर्शशनानि॥८-८॥

卐 सुबोधिका टीका 卐

क्षुत्पिपासेति। धर्मसाधनायां विघ्नकारका द्वाविंशति परिषहाः प्रमुखाः सन्ति। ते चेत्थम्- क्षुधा-पिपासा-शीतोष्णदंशमशक-नाग्न्यारित द्धीच निशद्या शय्याक्रोश वध-याचनाऽलाभ रोग-तृणस्पर्श-मल-सत्कार पुरस्कार-प्रज्ञानाऽदर्शन स्वरूपाः सन्ति। एते सर्वेऽपि रत्नत्रयरूपधर्मे बाधकाः सन्ति। एतावता रागद्वेष-परित्यागपूर्वककमेते परिषहाः परिषोढव्याः सन्ति।

कर्मप्रकृतिभ्य एवैतेषामुदयः। पञ्चानां कर्मप्रकृतीनां स्वरूपं तावदित्थम् - ज्ञानावरण-दर्शनावरण-चारित्रावरण-वेदनीय-मोहनीयान्तरायाणि।

※ सूत्रार्थ- परिषह बाईस प्रकार के है- क्षुधा (भूख) पिपासा, शीत, उष्ण, दंशमशक, नाग्न्य, अरतिद्धी चर्या, निषद्या, शय्या, आक्रोश, वध, याचना, अलाभ, रोग, तृणस्पर्श, मल, सत्कार, पुरस्कार, प्रज्ञा, अज्ञान और अदर्शन।

※ विवेचनामृतम् ※

धर्मसाधना में विघ्न उपस्थिापित करने वाले अनन्त परिषह है किन्तु क्षुधा(भूख) पिपासा(प्यास) शीत, उष्ण, दंशमशक, नाग्न्य, अरति, द्धी, चर्या निषद्या, शय्या, आक्रोश, वध, याचना, अलाभ, रोग, तृणस्पर्श, मल, सत्कार पुरस्कार, प्रज्ञा-अज्ञान-अदर्शन नाम बाईस परिषहों के रूप में ही समस्त परिषहों का समावेश होने की बात आचार्यों ने स्पष्टतया प्रस्तुत की है। इन बाईस परिषहों पर साधक को राग-द्वेष रहित होकर विजय प्राप्त करनी चाहिए।

बाईस परिषहों को सामान्यतया इस प्रकार समझा जा सकता है -

(१-२) **क्षुधा-पिपासा परिषह** - भूख-प्यास की अमित पीड़ा/वेदना होने पर भी साधुमर्यादा के उपयुक्त आहार-पानी न मिलने पर भी सदोष आहार-जल आदि को ग्रहण न करना तथा समतापूर्वक वेदना को सहन करना- **क्षुधा-पिपासा परिषह** कहलाता है।

(३-४) **शीत-उष्ण परिषह** - सर्दी या गर्मी के अधिक पड़ने पर व्याकुल होकर अकल्पनीय सदोष मर्यादातीत वद्धादि या अग्नि आदि का सेवन न करते हुए पूर्ण समताभाव से सर्दी-गर्मी को सहन करना **शीत-ऊष्ण परिषह** कहलाता है।

(५) **दंश-मशक परिषह** - यदि किसी स्थान विशेष पर या ऋतु में मच्छर, डांस, खटमल आदि जन्तुओं का प्रकोप अधिक हो तो भी उसे समभाव से साधुमर्यादा के अनुसार सहन करना दंश-मश-परिषह कहलाता है।

(६) **अचेल(नग्न्य) परिषह** - यदि वद्ध फट गये हों, जीर्ण-क्षीर्ण हो या चोर चुरा ले गया हो तो भी दीनता प्रकट न करते हुए समभाव से वद्धाभाव को सहन करना नग्न्य या अचेल परिषह कहलाता है।

(७) **अरति परीषह** - स्वीकार किए गए मार्ग में नाना प्रकार की कठिनाइयों तथा असुविधाओं के कारण, अरुचि, ग्लानि या चिन्ता न करना अपितु नरक-तिर्यञ्च गति के दु:खों को सहन करने का स्मरण करके धीरतापूर्वक, परिषह को सहन करना-'अरति परिषह' कहलाता है।

(८) **स्त्रीपरीषह** - पुरुष या द्धी साधक का अपनी साधना में विपरी लिङ्ग के प्रति कामवासना या आकर्षण पैदा होने पर उसकी ओर आकर्षित न होना, मन को सुदृढ़ रखना या कोई द्धी-पुरुष साधक को अथवा कोई पुरुष द्धी साधिका को विषय भोग के लिए आकृष्ट करे तो मन को वहाँ से मोड़कर आत्माराम में, संयम में रमण कराना 'द्धीपरीषह' कहलाता है।

(९) **चर्या-परीषह** - एक जगह स्थाई रूप से निवास करने से मोह-ममत्व के बन्धन मे पड़ने की आशंका बलवती हो जाती है। अत: रुग्णता, अशक्यता, अतिवृद्धता की स्थिति को छोड़कर नौकल्पी विहार करना, विहार यात्रा में आने वाले कष्टों को समभाव से सहन करना- 'चर्यापरीषह' कहलाता है।

(१०) **निषद्या-परीषह** - अकारण भ्रमण न करना अपितु अपने स्थान पर ही वृद्ध रुग्ण आदि की सेवा में दीर्घकाल तक रहना पड़े तो मन में खिन्नता न लाना, अथवा विहार करते समय रास्तें में बैठने का स्थान, उब्रड़-खाबड़, प्रतिकूल, कंकरीला, वृक्षमूल गिरिकन्दरा, एकान्त श्मशान या सूना मकान मिले तो उस समय कायोत्सर्ग करके या साधना के लिए आसन लगाकर बैठे हुए

साधक पर अकस्मात् सिंह, व्याघ्र, सर्प, व्यन्तरदेव आदि का उपद्रव हो जाए तो आतंक या भय को अकम्प-भाव से जीतना, आसन से विचलित नहीं होना-'निषद्या परीषह' कहलाता है।

(११) **शय्यापरीषह** - शय्या का अर्थ- आचारंग सूत्र के अनेसार'वसति' है। साधु को कहीं एक रात रहना पड़े तो वहाँ प्रिय या अप्रिय स्थान या उपाश्रय मिलने, पर हर्ष-शोक न करना। सर्द-गर्म-जैसी परिस्थिति को समभाव से सहना- **'शय्या परीषह'** कहलाता है।

(१२) **आक्रोषपरीषह** - किसी ग्राम में पहूँचने पर साधुक्रिया, वेषभूषा आदि देखकर ईर्ष्यावश कोई अज्ञ व्यक्ति यदि आवेश में आकर यदि कुछ अप्रिय कहे, मिथ्या दोषारोपण करे तो, समभाव से सहन करना'आक्रोश परीषह' कहलाता है।

(१३) **वध परीषह** - क्रोधावेश में आकर अगर कोई मनुष्य, साधु को मारे-पीटे लाठी आदि से प्रहार करे तब भी साधु, रोष न करे अपितु समताभाव में रहता विचार करे कि यह अज्ञानवश ऐसी चेष्टा कर रहा है। यह शरीर पर प्रहार कर रहा है किन्तु मेरी आत्मा को कोई क्षति नहीं पहुँचा सकता है। इस प्रकार से समताभाव पूर्वक सहन शक्ति का परिचय देनर ही'वधपरीषह' कहलाता है।

(१४) **याचना परीषह** - आहार, औषध आदि की आवश्यकता होने पर अनेक घरों से भिक्षा माँग कर लाने में मन में किसी प्रकार की लज्जा ग्लानि, दीनता, अभिमान आदि का भाव नहीं लाना चाहिए कि मैं उच्च कुल का होकर कैसे भिक्षा मांगू? वरन् यह विचार करना चाहिए कि मैं साधु हूँ भिक्षु हूँ भिक्षावृत्ति मेरा कर्त्तव्य है, मेरी साधना का सहायक अङ्ग है। संयम यात्रा के समुचित निर्वाह के लिए यह साधु की आचार संहिता का अभिन्न अङ्ग है। इस प्रकार का आचरण ही याचना परीषह कहलाता है।

(१५) **अलाभपरीषह** - याचना भिक्षावृत्ति के समय यदि विधिपूर्वक अभीष्ट एवं कल्पनीय वस्तु की प्राप्ति न होने पर भी अन्तराय कर्म का क्षयोपशम मानकर त्याग वृत्ति का परिचय देना चाहिए। अलाभ परीषह को सहन करने में दीनता, हीनता या खिन्नता का भाव कदापि नहीं होना चाहिए। अलाभ परीषह को सहज रूप से सहन करना ही उत्कृष्ट साधुवृत्ति का परिचायक है।

(१६) **रोगपरीषह** - शरीर में किसी प्रकार कष्ट होने पर अद्विग्नता रहित सहनशीलता का परिचय देना- रोगपरीषह कहलाता है।

(१७) **तृण-स्पर्श** - संस्तारक आदि की न्यूनता होने पर या संलेखना-संथारे के समय सूखे तृण घास आदि पर शयन करने उसकी कठोरता या चुभन को सहन करना तृण स्पर्श परीषह कहलाता है।

(१८) **जल्ल परीषह** – ग्रीष्मकाल में शरीर पर पसीना, मैल आदि होने पर उस वेदना को समतापूर्वक सहना जल्लपरीषह कहलाता है।

(१९) **सत्कार पुरस्कार परीषह** – वद्धादि के दान से अथवा वन्दना से किसी ने सत्कार किया तो किसी प्रकार का गर्व न महसूस करना। सम्मान या जय जयकार से प्रसन्न होना तथा अपमान से खिन्न न होना- 'सत्कार-पुरस्कार-परीषह' कहलाता है।

(२०) **प्रज्ञापरीषह** – अपनी प्रखर प्रज्ञा पर भी गर्व न करना या प्रज्ञा (बुद्धि) की उत्कृष्टता न होने का खेद न करना **'प्रज्ञापरीषह'** कहलाता है।

(२१) **अज्ञान परीषह** – ज्ञानावरणीयादि कर्मोदयवश यदि किसी साधु को बहुत परिश्रम करने पर भी ज्ञान न प्राप्त हो, स्मरण न रहे समझ में न आए तब भी किसी प्रकार खिन्न नहीं होना, समताभाव की साधना को बनाए रखना ही अज्ञान परीषह कहलाता है।

(२२) **अदर्शन परीषह** – मुनि को अपने सम्यग् दर्शन में सुदृढ़ रहना चाहिए। अन्य दर्शनों के विद्वनों की प्रसिद्धि या उपलब्धि से आकर्षित नहीं होना चाहिए।अपने सम्यग् दर्शन में निष्ठापूर्वक तल्लीन रहना चाहिए। मिथ्यादर्शन युक्त विचार न करना ही 'अदर्शन परीषह' कहलाता है।

केषां केषां गुणस्थान वर्तिजीवानां कियान् कियान् परिषहः इति विशदीकरोति-

卐 सूत्रम् -

सूक्ष्मसंपरायछद्मस्थवीतरागयोश्चर्तुदश ॥९-१०॥

卐 सुबोधिका टीका 卐

सूक्ष्मसंपरोयेति। सूक्ष्म सम्पारयगुणस्थानवतां छद्मस्थवीतरागसंयमिनाञ्चोक्तेषु द्वाविंशति परिषहेषु चतुर्दश परिषहाः सञ्जायन्ते। तयथा-क्षुधापरिषहः पिपासापरिषहः, शीतपरिषहः, उष्णपरिषहः, दंशमशक परिषहः, चर्यापरिषहः, प्रज्ञापरिषहः, अज्ञानपरिषहः, अलाभपरिषहः, शय्यापरिषहः, वधपरिषहः, रोगपरिषहः, तृणस्पर्शपरिषहः, मलपरिषहश्चेति।

यस्मिन् चरित्रे लोभकषायोऽतिमन्दो भवति स सूक्ष्मसम्परायः। चरित्रमिदम् उपशमश्रण्यां क्षपकश्रेण्यां वा प्राप्यते। उपशम श्रेणी,दशमगुणस्थानपर्यन्तं भवति।

*** सूत्रार्थ** – सूक्ष्म संपराय (सुक्ष्मकषाय) वाले तथा छद्मस्थ वीतरागी संयमियों के बाईस परीषहों में से कुल चौदह परीषह होती है- १. क्षुधा परीषह २. पिपासा परीषह ३. शीतपरीषह

४. ऊष्णपरीषह ५. दंशमशकपरीषह ६. चर्यापरीषह ७. प्रज्ञापरीषह ८. अज्ञान परीषह ९. अलाभपरीषह १०. शय्यापरीषह ११. वधपरीषह १२. रोगपरीषह १३. तृणस्पर्शपरीषह १४. मल परीषह।

❊ विवेचनामृत ❊

संपराय का अर्थ है- कषाय। जब लोभ रूपी कषाय की अत्यन्त मन्दता होती है तथा कषायात्मकता नितान्त हल्की हो जाती है तो उसे **'सूक्ष्मसंपराय'** कहते हैं। सुक्ष्मसंपराय वाले एवं छद्मस्थ वीतरागी संयमियों के मात्र चौदह परीषह होते है।

जिस चरित्र में लोभ कषाय अतिमन्द होता है वह **'सूक्ष्म संपराय'** कहलाता है। यह दशम गुणसथान की संज्ञा है। जब तक केवल ज्ञान नहीं हुआ हो परन्तु कषाय कर्म शान्त या क्षीणतर/लघुतर हो चुके हों ऐसे ग्यारहवें तथा बारहवें गुणस्थान को **'छद्मस्थ वीतराग'** कहतें हैं। पूर्वोक्त तीनों ही गुणस्थानों में मात्र चौदह परीषह प्राप्त होते हैं।

卐 सूत्रम् -

एकादश जिने॥९-११॥

卐 सुबोधिका टीका 卐

एकादशेति। वेदनीय कर्मोदयात् एते एकादश गुणाः उत्पद्यन्ते। एते एकादश परिषहाः त्रयोदशगुणस्थान वतां चतुर्दश गुणस्थान वतामपि जिनानां संभवन्ति। ते चेथयम् सन्ति-क्षुधापरिषह-पिपासापरिषह-शीतपरिषह-उष्णपरिषह-दंशमशकपरिषह-चर्यापरिषह-शय्यापरिषह -वधपरिषह-रोगपरिषह-तृणस्पर्शपरिषह-मलपरिषहा॥८-११॥

❊ सूत्रार्थ - वेदनीय कर्मो के उदय के कारण जिन भगवान् तेरहवें तथा चौदहवें गुणस्थान वालों के ये ग्यारह परिषह होते हैं- १. क्षुधापरिषह २. पिपासा परिषह ३. शीतपरिषह ४. ऊष्णपरिषह ५. दंशमकपरीषह ६. चर्यापरिषह ७. शय्यापरिषह ८. वधपरिषह ९. रोगपरिषह १०. तृणस्पर्शपरिषह ११. मलपरिषह।

❊ विवेचनामृत ❊

वेदनीय कर्म का उदय तेरहवें गुणस्थानी जिनेश्वर भगवान् में भी पाया जाता है। अतएव ये ग्यारह परिषह जिन भगवान् में भी होते है। दिगम्बर सम्प्रदाय में प्रस्तुत सूत्र की व्याख्या या विवेचना करते हुए 'सन्ति' तथा'न सन्ति' क्रिया पद जोड़कर भी की गई है। 'सन्ति' क्रिया पद जोड़ने पर जिन भगवान् में ग्यारह परिषह होते हैं तथा 'न सन्ति' जोड़ने पर ये ग्यारह परिषह भी जिनेश्वर भगवान् के नहीं होते है- ऐसा भाव प्रकट किया गया है।

卐 सूत्रम् -

वादरसंपराये सर्वे॥९-१२॥

卐 सुबोधिका टीका 卐

वादरसंपराय इति। नवमगुणस्थानपर्यन्तं सर्वेऽपि द्वाविंशति परिषहाः संजायन्ते। वादर नाम स्थूलकषायः। यावत् स्थूलकषायोदयः प्राप्यते तावत् नवमगुण स्थानं वादरसम्परायः कथ्यते। वादरसम्पराये सर्वेषामपि परिषहानां संभावना भवति।

द्वाविंशति परिषहानां सम्भावना नानाजीवापेक्षया वर्तते न तु एक जीवापेक्षया अथवा काल भेदात् एकस्यापि जीवस्य सर्वे परिषहा भवितुमर्हन्ति। वस्तुतः एकस्मिन् काले एकस्य जीवस्य एकोनविंशतिपरिषहा एव भवितुमर्हन्ति न तु ततोऽधिकाः किन्तु काल भेदात् सर्वेऽपि द्वाविंशति परिषहा भवितुमर्हन्ति।

*** सूत्रार्थ** - वादर संपराय (स्थूलकषाय) पर्यन्त अर्थात् नवम गुणस्थान पर्यन्त सभी (बाईस) परिषह सम्भव है।

* विवेचनामृत *

नवम (नौवें) गुण स्थान तक समस्त बाईस परिषह उत्पन्न होते। वादर का तात्पर्य है- स्थूल कषाय। जब तक स्थूल कषायों का उदय रहता है तब तक नवम गुणस्थान=वादसंपराय कहलाता है। बादरसम्पराय में सभी परिषहों की संभावना बनी रहती है।

बाईस परिषहों की संभावना अनेक जीवों की अपेक्षा से है एक जीव की अपेक्षा से नही। अथवा काल भेद से एक जीव के १९ परिषह ही हो सकते है, उससे अधिक नही।

卐 सूत्रम् -

ज्ञानावरणे प्रज्ञाज्ञाने॥९-१३॥

卐 सुबोधिका टीका 卐

ज्ञानावरण इति। ज्ञानावरणकर्मोदयात् प्रज्ञापरिषहः अज्ञान परिषहश्च भवतः। बुद्धेर्ज्ञानस्य वा मदः-प्रज्ञापरिषहः कथ्यते। अल्पज्ञतायाः कारणं ज्ञानावरण कर्म एव विद्यते। ज्ञानावरणक्षयोपशमात् आविर्भूता बुद्धिः प्रज्ञा त्वन्यत्।

*** सूत्रार्थ** - ज्ञानावण कर्म के उदय से प्रज्ञा परिषह तथा अज्ञान परिषह नामक दो परिषह होते है।

❊ विवेचनामृत ❊

बुद्धि या ज्ञान का मद **'प्रज्ञा परिषह'** कहलाता है। अल्पाज्ञता का कारण ज्ञानावरण कर्म होता है। ज्ञानमद, अल्पज्ञता अथवा अज्ञता का ही सूचक है। ज्ञानावरण क्षयोपशम के कारण आविर्भूत बुद्धि (प्रज्ञा) तो पृथक है- वह प्रज्ञ परिषह नहीं है। प्रज्ञा एवं प्रज्ञापरिषह को एक समझना नितान्त चिन्तनीय है।

प्रज्ञा एवं प्रज्ञापरिषह में पर्याप्त अन्तर है। ज्ञानावरण के क्षयोपशम से उद्भूत बुद्धि **'प्रज्ञा'** कहलाती है। जबकि प्रज्ञा अर्थात् ज्ञान का मद(अहंकार) होना प्रज्ञा परिषह कहलाता है। अतएव ज्ञानावरण कर्मोदय को प्रज्ञा परिषह का कारण बताना सर्वथा तर्कसंगत है।

卐 सूत्रम् -

दर्शनमोहान्तराययोर + दर्शनालाभो॥९-१४॥

卐 सुबोधिका टीका 卐

दर्शनमोहेति। दर्शनमोहनीयकर्मण: अन्तरायकर्मण: चोदये सति अदर्शन परिषह:, अलाभपरिषहश्च भवत:। अदर्शनं नाम अतत्त्वार्थ श्रद्धानम्। एषा परिणतिदर्दर्शनमाहोदयात् संजायते।

❊ सूत्रार्थ - दर्शन मोहनीय कर्म तथा अन्तराय कर्म के उदय के कारण क्रमश: अदर्शन परिषह तथा अलाभ परिषह होते है।

❊ विवेचनामृत ❊

अदर्शन का तात्पर्य है- **अतत्त्वश्रद्धान।** यह स्थिति दर्शनमोह के कारण ही उपस्थिति होती है। कभी-कभी उत्कृष्ट तपस्वी सन्तों को भी अतत्त्वश्रद्धान अर्थात् अदर्शन भाव से गुजना पड़ता है। जैसे कोई घोर तपस्वी सन्त, यदि इस प्रकार से सोचता है कि शास्त्रों में तपश्चर्या के फलस्वरूप अनेक ऋद्धियों एवं सिद्धियों का वणन प्राप्त होता है किन्तु मुझे कई वर्षों से घोर तपस्या करने पर भी कोई ऋद्धि-सिद्धि प्राप्त नहीं हुई है। अत: शास्त्रलिखित,प्रलोभन मात्र है। वास्तव में तपश्चरण से ऐसा कुछ प्राप्तव्य नहीं है। इसी प्रकार यदि कभी लाभान्तराय के कारण आहार लाभ न होने पर यदि सन्त में व्याकुलता हो अलाभ परिषह कहते हैं।

卐 सूत्रम् -

चरित्रमोहनाग्न्यारितस्त्रीनिषद्याक्रोशयाचना-सत्कार-पुरस्कारा:॥९-१४॥

卐 सुबोधिका टीका 卐

चरित्रमोहइति। चरित्रमोहनीय - कर्मोदयाद् एते सप्त परिषहाः भवन्ति - नाग्न्यपरिषह - अरतिपरिषह - स्त्रीपरिषह - निषद्यापरिषह - आक्रोश परिषह - याचनापरिषह - सत्कार पुरस्कार परिषहरूपाः।

*** सूत्रार्थ** - चरित्र मोह के उदय से नाग्न्यपरिषह अरतिपरिषह, स्त्रपरीषह, निषद्यापरिषह, आक्रोशपरिषह, याचनापरिषह तथा सत्कार-पुरस्कार परिषह होते हैं।

* विवेचनामृत *

निर्ग्रन्थ लिङ्ग धारणा तथा तदर्थ आई हुई विपत्तियों को नाग्न्यपरिषह कहते है। अनिष्ट पदार्थों के योग में अप्रतीति स्परूप भाव होन के कारण को अरतिपरिषह कहते है। ब्रह्मचर्यव्रत भङ्ग करने की अपेक्षा से स्त्रियों की चेष्टाओं को सहने की स्थिति को स्त्रीपरिषह कहते है। स्थिर सुखासन की कठिनता का अनुभव निषद्यापरिषह कहलाता है। सुसाधु के विषय में अज्ञानी मनष्यों द्वारा लगाए गए मिथ्या आरोप **'आक्रोशपरिषह'** कहलाते हैं।

संक्लेश=विपत्ति के समय उस विपत्ति को दूर करने के लिए अपने लिए वस्तु को मांगना-याचना परिषह कहते है। योग्यता अर्हता के रहने पर भी योग्य पद या सम्मान को नहीं प्राप्त कर पाना-**'सत्कार-पुरस्कार परिषह'** कहते हैं। ये सातों परिषह चारित्र मोह के उदय के कारण होते है।

卐 सूत्रम् -

वेदनीये शेषाः ॥९-१३॥

卐 सुबोधिका टीका 卐

वेदनीय इति। शेषाः=अवशिष्टाः,एकादश परिषहाः वेदनीय कर्मोदयाद् भवन्ति। एते जिने भवन्ति-इति पूर्वमुक्तम्। एकादश परिषहानां नामानि चेथयम् प्रज्ञा परिषहः अज्ञान परिषहः, अदर्शनपरिषहः, अलाभपरिषहः, नाग्न्य परिषहः, अरतिपरिषहः, स्त्रीपरिषहः, निषद्या परिषहः, आक्राश परिषहः, याचनापरिषहः, सत्कार-पुरस्कार परिषहः। एतेभ्यः शेषा एकादश परिषहाः। यथा-क्षुधापरिषहः, पिपासापरिषहः, शीतपरिषहः, शय्यापरिषहः, वधपरिषहः, रोगपरिषहः, तृणस्पर्शपरिषहः, मलपरिषहश्चेति।

*** सूत्रार्थ** - पूर्वोक्त परिषहों के अतिरिक्त बचे एकादश परिषह वेदनीय कर्म के उदय से होते हैं।

* विवेचनामृत *

प्रज्ञा परिषह,अज्ञान परिषह, अदर्शन परिषह,अलाभ परिषह,नाग्न्य परिषह, अरतिपरिषह, स्त्रीपरिषह,निषद्यापरिषह,आक्रोश परिषह, याचना परिषह तथा सत्कार-पुरस्कार परिषह के

अतिरिक्त शेष एकादश परिषह वेदनीय कर्मोदय हाने के कारण होते है। ये परिषह कारण के अस्तित्व में रहने के कारण जिन भगवान् में भी संभव है- ऐसा पूर्व में भी प्रतिपादित किया गया है।

卐 सूत्रम् -

एकोदया भाज्या युगपदेकोनविंशतेः ॥९-१७॥

卐 सुबोधिका टीका 卐

एकादय इति। एतेषु द्वाविंशतिपरिषहेषु एकस्मिन् जीवे,एकास्मिन् काले एकाद् आरभ्य एकोनविंशति पर्यन्तं परिषहा यथा सम्भवं सम्भवन्ति न तु ततोऽधि काः। युगपद् द्वाविंशति संख्याकाः परिषहाः कथं न भवन्तीति चात्र ज्ञेयम्। परस्परविरुद्धत्वात् शीतोष्ण परिषहौ न सम्भवतः एकस्मिन् जीवे एकस्मिन् काले। एवमेव चर्या-शय्या-निषद्यासु एस्मिन् जीवे, एकस्मिन् काले द्वयोरभावो भविष्यति। यतो हि चर्या-शय्या-निषद्यासु एकस्मिन जीवे एकस्मिन् काले एकस्याः एव सत्वात्।

*** सूत्रार्थ -** पूर्वोक्त बाईस परिषहों में से एक काल में एक जीव में एक से लेकर उन्नीस तक के यथासम्भव परिषहों की उपस्थिति होती है।

* विवेचनामृतम् *

बाईस परिषहों में से यथासम्भव प्राप्त एक से लेकर उन्नीस परिषहों तक एक जीव एक काल में सम्भाव्य है। बाईस के बाईस परिषह कदापि एक जीव में, एक काल में प्राप्तव्य नहीं है।

एक साथ बाईस परिषह क्यों नहीं हो सकतें ? इस सम्भावित प्रश्न के उत्तर में कहा गया है कि शीत-ऊष्ण में परस्पर विरोधिता होने के कारण तथा चर्या-शय्या-निषद्या परिषदों में से एक काल में एक ही हो सकती है। शेष दो का अभाव ही रहेगा।

卐 सूत्रम् -

सामायिकछदोपस्थाप्य परिहार विशुद्धि सूक्ष्मसंपराय यथाख्यातानि चारित्रम् ॥९-१९॥

卐 सुबोधिका टीका 卐

सामायिकेति। पन्चविधं चारित्रम्। तद् यथा सामायिक संयमः छेदोपस्थाप्य संयमः, परिहार विशुद्धि संयमः, यथासंख्य संयमश्चेति।

संसार हेतु भूतकर्मबन्धयोग्यक्रियाणां निरोधं कृत्वा आत्मस्वरूपलाभाय सम्यग् ज्ञान पूर्वकं प्रवृत्तिर्यत्र क्रियते तच्चारित्रम्।

※ सूत्रार्थ - चारित्र पाँच प्रकार का होता है- १. सामायिक चारित्र २. छोदोपस्थाप्य चारित्र ३. परिहार विशुद्धि चारित्र ४. सूक्ष्मसंपराय चारित्र ५. यथाख्यात चारित्र ।

※ विवेचनामृतम् ※

जागतिक प्रपन्च के कारणस्वरूप कर्मबन्धों को रोकने के लिए, तथा आत्मस्परूप की प्राप्ति के लिए जो सम्यग्ज्ञानपूर्वक प्रवृत्ति की जाती है- उसे चारित्र कहते हैं।

इनके निर्देश-स्वामित्व आदि का विशद वर्णन आगे किया जाएगा। चारित्र के पाँच प्रकार बताए गए हैं -

१. सामायिक चारित्र २. छेदोपस्थाप्य चारित्र ३. परिहारविशुद्धि चारित्र ४. सुक्ष्म संपराय चारित्र ५. यथाख्यात चारित्र।

साम्प्रतं चारित्रनिरूणानन्तरं तपो वर्णयति। पूर्व तावत् संवरकारणेषु तपसः परिगणितत्वात् बाह्यतपः स्वरूपम्।

卐 सूत्रम् -

अनशनावमौदयवृत्ति परिसंख्यानरसपरित्याग-विविक्त-शय्यासन कायक्लेशा बाह्यं तपः ॥१९॥

卐 सुबोधिका टीका 卐

जैन मान्यतानु सारेण षड्विधं बाह्यं तपः। तच्चेत्थम्-अनशनम्,अवमौदार्यम् वृत्तिपरि संख्यानाम् रसपरित्यागः, विविक्तशय्यासनम्, काया क्लेशस्वरूपमित्यभिप्रायेणाह **अशनेति।**

यास्मिन् तपसि बाह्य क्रियायाः प्राधान्यं बाह्यद्रव्यापेक्षासहितत्वाद् अन्यैरपि विलोक्यते तच्च बाह्यं तपः। एतद् बाह्यंतपः यद्यपि स्थूलापेक्षि तथापि आभ्यन्तरतपः पुष्णाति। अतो जेगीयतेऽस्य माहात्म्यम्।

१. **अनशनम्** - विशिष्टावधिपर्यन्तमथवा यावज्जीवं सर्वाहारपरित्यागः। अत्र प्रथमेत्वरिकः द्वितीयश्च यावत्कत्थिकोऽस्ति।

२. **अमौदार्यम्** - ऊनोदरीति यावत्। यावती क्षुधा ततोऽल्प भोजनम (आहारः)।

३. **वृत्तिपरिसंख्यानम्** - विविधेपदार्थानाम् लालसा परित्यागः।

४. **रसपरित्यागः** - दुग्ध-दधि-घृत-मद्य-मधु नवनीतादि विकारवर्धक रसानां परित्यागः।

५. **विविक्ताशय्यासनं** - बाधारहितमेकास्मिन् स्थान वासः।

६. **कायाक्लेशः** - धर्माराधनायै स्वेच्छापूर्वकं शरीर क्लेशम्। कायाक्लेशोऽनेक विधः जैनागमेषु प्रतिपादितः।

*** सूत्रार्थ** - अनशन, अवमौदर्य, वृत्ति परिसंख्यान रस परित्याग, विक्तशय्यासन तथा कायाक्लेश ये छः तप हैं।

* विवेचनामृतम् *

कर्मवासनाओं को क्षीण करने का अमाघ साधन है- **'तप'**।

जैन मत के अनुसार छः बाह्य तप है। बाह्य तप उसे कहते हैं जिसमें शारीरिक क्रिया की प्रधानता हो तथा द्रव्यों की अपेक्षा होने के कारण अन्यों को परिलक्षित होता हो। स्थूल एवं अन्य जनों द्वारा ज्ञात होने पर भी बाह्य तप, आभ्यन्तर तप की परिपुष्टि के लिए नितान्त महत्पूर्ण है।

बाह्य तप के छः प्रकार हैं -

१. **अनशन** - अनशन का अर्थ है- आहार का त्याग करने से मन के विषय विकार दूर हो जाते हैं। विषय निवृत्ति होने से मन में पवित्रता आती है, शरीर भी रोग-मुक्त रहता है। उपवास करने से मनुष्य नीरोग, सबल, स्वस्थ एवं तेजस्वी बनता है। उसका मनोबल समृद्ध होता है। गीता में भी कहा है- विषया विनिवर्तन्ते, निराहारस्य देहिनः।

अनशन तप के भेद

अनशन का अर्थ है- **आहारत्याग**। यह एक दिन का भी हो सकता है, छः महीने का भी और जीवन पर्यन्त का भी। **भगवती सूत्र** में इसके विविध भेद के सन्दर्भ में इस प्रकार कहा है-

अणसणे दुविहे पण्णत्ते-

तं जहां-इत्तिरिए य आवकहिए

इत्तरिए अणेगविहे पण्णत्ते-

तं जहां-चउत्थ भत्ते,छट्ठभत्ते, जाव छम्मासिए भत्ते।

- भगवति सूत्र २५/७

अनशन तप के दो प्रकार है-

१. **इत्वरिक** - कुछ निश्चत काल के लिए।

२. **यावत्कत्थिक** - जीवन पर्यन्त के लिए।

इत्वरिक तप को सावकांक्ष तप भी कहते है क्यों कि निश्चित अवधि के पश्चात् भोजन की आकांक्षा रहती है। यावत्कात्थिक तप को निरवंकाक्ष तप भी कहते है क्योंकि इसमें जीवन पर्यन्त आहार का परित्याग होता है, साथ ही इसमें जीवन के प्रति भी कोई आकांक्षा शेष नहीं रहती है।

इत्वरिक तप के छह भेदों के सन्दर्भ में उत्तराध्ययन सूत्र द्रष्टव्य है-

जो सो इत्तरिओ तवो सो समासेण छव्विहो।
सेढि तवो पयरतवो घणों य तह होइ वग्गो य।
तत्तो य वग्ग वग्गो पंचम छट्ठओ पइराण तवो।
मण इच्छियचित्तत्थो नायव्वो होइ इत्तरिओ।।

मन वांछित फल प्रदाता इत्वरिक तप संक्षेपत: छ: प्रकार का है

१. श्रेणी तप २. प्रतरतप ३. घनतप ४. वर्गतप ५. वर्ग-वर्ग तप ६. प्रकीर्ण तप।

यावत्कथिक अनशन तप के भी दो भेद कहे गए हैं- पादोपगमन तथा भक्त प्रत्याख्यन। उववाई सूत्र में कहा है-

आवकहिए दुविहे पण्णत्ते-

पाओवगमणे य भत्तपच्चक्खाणे य।

- उववाई सूत्र

उत्तराध्ययन में भी कुछ भिन्न अपेक्षा से इसके दो भेद प्रस्तुत किए गए है-

जा सा अरूणसणा मरणे दुविहा सा वियाहिया।
स वियारम वियारा कायचिट्ठं पई भवे।।

- उत्तरा० ३०/१२

मरणकाल पर्यन्त अनशन तप के काय चेष्टा की अपेक्षा से दो भेद है- सविचार और अविचार।

जिस अनशन तप में शरीर की चेष्टा हिलना,चलना, बाहर भ्रमण करना आदि, काय व्यापार चालू रहते हों वह **'सविचार अनशन'** कहलाता है तथा जिसमें शरीर की समस्त क्रियाएँ बंध होकर देह बिल्कुल स्थिर निष्पंद-सी हो जाती है वह अनशन की स्थिति- **'अविचार अनशन'** कहलाती है।

२. **अवमौदर्य (ऊनोदरी)** - आहार, उपधि और कषायं को न्यून (कम) करना अवमौदर्य/ऊनोदरी तप कहलाता है। यह दो प्रकार का होता है- १. द्रव्य ऊनोदरी २. भाव ऊनोदरी।

३. **वृत्तिपरिसंख्यान तप** – जैसे भँवरा उद्यान के फूलों से किञ्चित् किञ्चित् रस ग्रहण कर तृप्त हो जाता है उसी प्रकार साधु को भी थोड़ी-थोड़ी सामुदानिक(सामुहिक) भिक्षा लाकर शरीर निर्वाह तथा संयम यात्रा निर्वाह करना भिक्षाचरी तप/वृत्तिपरिंसख्यान तप कहलाता है। साधु की भिक्षा को गोचरी तथा माधुकरी भी कहतें है। दशवैकालिक सूत्र में कहा भी है-

वयं च वित्तिं लब्भामो ण य कोइ उवहम्मइ।
अहागडेसु रीयंते, पुप्फेसु भमरो जहा॥

– दशवै: अ० १ गा० ४

'वृत्ति संख्यान तप' गृहस्थों के लिए आवश्यक आहार्य द्रव्यों की परिसंख्या के सन्दर्भ में है। साधुओं के लिए यह भिक्षाचरी तप स्परूप है।

४. **रसपरित्याग** – जिह्वा को स्वादिष्ट लगने वाली तथा इनिद्रयों को प्रबल, उत्तेजित करने वाली वस्तुओं का त्याग करना **'रसपरित्याग तप'** कहलाता है।

शास्त्रों में इसके चौदह प्रकार वर्णित है।

५. **प्रतिसंलीनतातप (विविक्ताशय्यासन)** – इन्द्रिय, शरीर, मन और वचन से विकारों को उत्पन्न न होने देकर उन्हें **आत्मस्वरूप** में संलीन करना या कर्मास्रव के कारणों का निरोध करना प्रतिसंलीनता तप कहलाता है।

इसके चार भेद हैं-

१. इन्द्रिय-प्रतिसंलीनता २. कषाय-प्रतिसंलीनता ३. योग-प्रतिसंलीनता ४. विविक्त-प्रतिसंलीनता

६. **कायक्लेश** – धर्माराधना के लिए स्वेच्छापूर्वक अपनी काया को कष्ट देना **काया क्लेशतप** कहलाता है। काया क्लेश तप अनेक प्रकार का है। स्थानांग सूत्र में कायाक्लेश तप के सात प्रकारों का उल्लेख करते हुए कहा है-

ठाणाइए उक्कुडुयासणिए पडिमठ्ठाइ वीरासणिए।
णेसणिज्जे दंडाइए लगंड साई॥

– स्थानांग-७/५५४ सूत्र

उववाई सूत्र में सविस्तार चौदह भेदों का वर्णन प्राप्त होता है।

❊ आभ्यन्तरतपः ❊

卐 सूत्रम् -

प्रायश्चित्तविनयवैयावृत्यस्वाध्याय-व्युत्सर्गध्यानान्युत्तरम् ॥२०॥

卐 सुबोधिका टीका 卐

प्रायश्चित्तेति। आभ्यनत + रतपसः षड्भेदाः प्रायश्चित्तं, विनयो, वैयावृत्यं स्वाध्यायो व्युत्सर्गो ध्यानमिति।

धारित व्रतेषु प्रमादजनितदोषाणां शोधनं **प्रायश्चितम्**। विनयो नाम ज्ञानादि सद्गुणेषु आदरभावः। वैयावृत्यं-योग्यसाधनान् एकत्रीकृत्य सेवाशुश्रुषाकरणम्। विनयो मानसिको धर्मः। वैयावृत्यं नाम शारीरिकधर्मः। विनयवैयावृत्ययोरयनमेव भेदः। ज्ञान प्राप्तये विविध + प्रकार का गमादीना + मध्ययनं स्वाध्यायः। अहंता-ममता परित्यागो व्युत्सर्गः। चित्त विक्षेपत्यागो ध्यानम्॥

❊ **सूत्रार्थ** - प्रायश्चित्त, विनय, वैयावृत्य, स्वाध्याय व्युत्सर्ग और ध्यान - ये छः आभ्यन्तर तप हैं।

❊ विवेचनामृतम् ❊

आभ्यन्तर तप के छः भेद है- प्रायश्चित्त विनय, वैयावृत्य, स्वाध्याय, व्युत्सर्ग और ध्यान।

ग्रहण किए गए व्रतों की पालना में प्रमाद आदि के कारण आगत दोषों का परिमार्जन / शोधन करना- **प्रायश्चित** कहलाता है।

ज्ञान, संयम आदि गुणों के प्रति आदर भाव रखना- **'विनय'** कहलाता है। योग्य साधन से या स्वयं दत्तचित्त होकर सेवा शुश्रुषा करना- **'वैयावृत्य'** कहलाता है। विनय और वैयावृत्य में यही अन्तर है कि विनय मानसिक धर्म है और वैयावृत्य शारीरिक धर्म है। ज्ञान प्राप्ति के लिए विविध प्रकार से आगम-शास्त्रों का अध्ययन करना ही **'स्वाध्याय'** कहलाता है। अहंता तथा ममता का त्याग करना- **'व्युत्सर्ग'** कहलाता है। चित्त के विक्षेपों का त्याग करना- **'ध्यान'** कहलाता है।

❊ प्रायश्चित भेदाः ❊

卐 सूत्रम् -

आलोचनप्रतिक्रमणतदुभय + विवेक व्युत्सर्ग तपश्छेदपरिहारोपस्थापनानि ॥२२॥

卐 सुबोधिका टीका 卐

आलोचनेति। आलोचनम्, प्रतिक्रणम्, तदुभयम् विवेकः, व्युत्सर्गः, तपः, छेदः, परिहारः, उपस्थापनम् एते प्रायश्चित्तस्य नव भेदाः सन्ति।

गुरोः समक्षं स्वापराधस्वीकार पूर्वकं दोषरहित भालोचनं प्रकटनं प्रकाशनं **प्रायश्चित्तम।** प्रतिक्रमणं मिथ्या दुष्कृतसंप्रयुक्तं प्रत्याख्यानं कायोत्सर्गकरणं च। एतदभय + मालोचनं प्रतिक्रमणे।

विवेचनं विशोधनं प्रत्युत्प्रेक्षणं विवेकः। अकल्पनीय वस्तूनां त्यागो **विवेकः।** एकाग्रता पूर्वकं वाक्कायव्यापरत्यागो **व्युत्सर्गः।** अनशनादि बाह्यतपः करणं तपः। दोषानुसारेण पक्षं /मासं दिवसस्य पक्षस्य मासस्य वर्षस्य वा प्रव्रज्यायाः न्यूनकरणं छेदः। यावत् संसर्गत्यागः **परिहारः।**

उपस्थापनं पुर्नदीक्षणं पुनश्चरणं पुनर्व्रतारोपण मिति यावत्। अहिंसा-सत्य-ब्रह्मचर्यादि व्रतानां भंगे सति तेषां महाव्रतानाम् आरोपण मेवोपस्थापनमिति शम्।

*** सूत्रार्थ** - आलोचन, प्रतिक्रमण, तदुभय, विवेक व्युत्सर्ग, तप, छेद, परिहार और उपस्थापन ये प्रायश्चित्त के नौ भेद हैं।

* आभ्यन्तर तपो भेदाः *

卐 सूत्रम् -

नवचतुर्दशपंचद्विभेदं यथाक्रम प्राग्ध्यानात् ॥२१॥

卐 सुबोधिका टीका 卐

नवचतुर्दशेति। ध्यानात् पूर्वाणि आभ्यन्तरतपांसि क्रमशः नवधाचतुर्धा, दशधा, पञ्चधा, द्विधा च भवन्ति।

*** सूत्रार्थ** - ध्यान के पूर्ववर्ती आभ्यान्तर तपों के क्रमशः नव, चार, दस, पाँच तथा दो भेद होते हैं।

* विवेचनामृतम् *

आभ्यन्तर तप के छः भेदों का वर्णन पूर्व में प्रायश्चित्त, विनय, वैयावृत्य, स्वाध्याय, व्युत्सर्ग तथा ध्यान के रूप में किया है। सम्प्रति ध्यान पूर्ववर्ती पाँच आभ्यन्तर तपों के भेदों के सन्दर्भ में प्रस्तुत सूत्र में कहा है कि प्रायश्चित्त के नौ भेद, विनय के चार भेद, वैयावृत्य के दश भेद, स्वाध्याय के पाँच भेद तथा व्युत्सर्ग के दो भेद होते हे, जिनकी विशद व्याख्या आगामी सूत्रों के माध्यम से की जायेगी ।

यहाँ ध्यातव्य है ध्यान का विचार विस्तृत होने के कारण उसे अन्त में रखकर, उससे पूर्ववर्त्ती प्रायश्चित्त आदि पाँच आभ्यन्तर तपों के भदों की संख्या बताई गई है।

❊ विवेचनामृतम् ❊

प्रायश्चित्त के नौ भेद हैं- आलोचन, प्रतिक्रमण, तदुभय, विवेक, व्युत्सर्ग तप, छेद, परिहार और उपस्थापन।

स्खलना/त्रुटि/भूल के अनेक प्रकार सम्भव हैं। अत: भूल शोधन स्वरूप प्रायश्चित के भी अनेके प्रकार सम्भाव्य है किन्तु वे संक्षिप्त रूप से नौ प्रकार के है इसी भावना के साथ प्रस्तुत सूत्र की प्रवृत्ति है।

१. गुरू के सम्मुख/समक्ष शुद्ध भाव से अपनी स्खलना (भूल) को प्रकट करना **'आलोचन'** कहलाता है।

२. संजात त्रुटि का अनुताप करके उससे निवृत्त होना तथा त्रुटि की पुरावृत्ति न हो एतर्थ सतत सावधान रहना- **प्रतिक्रमण** कहलाता है।

३. आलोचन एवं प्रतिक्रमण को साथ-साथ करना ही **तदुभय** या **मिश्र** कहलाता है।

४. विवेक, विवेचन विशोधन तथा प्रत्युपेक्षण शब्द पर्यायवाची है। खाने-पीने आदि की यदि अकल्पनीय वस्तु आ जाये तथा आने के बाद पता चले तो उसका त्याग करना विवेक कहलाता है। अर्थात् मिले हुए अन्न-पान आदि को पृथक्-पृथक् करना विवेक **प्रायश्चित्त** कहलाता है।

५. एकाग्रतापूर्वक शरीर और वचन के व्यापारों को छोड़ना **व्युत्सर्ग** कहलाता है।

६. अनशन आदि बाह्य तप की आराधना को **'तप'** कहते हैं।

७. दोष लगने पर दोष के अनुसान दिवस, पक्ष, मास या वर्ष तक की अवधि तक प्रव्रज्या (दीक्षा) कम करना **'छेद'** कहलाता है।

८. दोष के भागी व्यक्ति से उसके दोष के अनुसार पक्ष, मास आदि तक व्यवहार। संसर्ग आदि न करना, उसे अमुक अवधि तक छोड़ देना- **परिहार** कहलाता है।

९. अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह नामक महाव्रतों का भंग होने पर पुन: प्रारम्भ से उन महाव्रतों का विधिवत् आरोपण करना- **'उपस्थापन'** कहलाता है।

❊ विनय भेदा: ❊

ज्ञान-दर्शन-चारित्रोपचारा: ॥२३॥

卐 सुबोधिका टीका 卐

ज्ञानदर्शनेति। प्रायश्चित्त + भेदान् पूर्व निरूप्य सम्प्रति क्रमप्राप्तान् विनय भेदान् गणयति

ज्ञानदर्शन चारित्रोपचारा इति सूत्रेण। चत्वारो भेदा भवन्ति विनयतपसः। तद् यथा ज्ञानविनयः, दर्शन विनयः, चारित्र विनयः, उपचार विनयश्चेति।

वस्तुतः गुणरूपेण विनयः एक एव तथापि प्रस्तुताश्चत्वारो भेदा विषय दृष्ट्या निरूपिताः। अत्र विपायस्य विषयः मुख्यरूपेण चतुर्धा विभक्तोऽस्ति।

तत्र ज्ञान विनयः पञ्चाधा। तद्यथा मतिविनयः, श्रुतविनयः, अवधि विनयः, केवल विनयश्चेति।

दर्शन विनयस्तु केवलः 'सम्यग्दर्शन' विनयरूपः। चारित्रविनयस्तु पञ्चविधः सामायिक विनयः, छेदोपस्थापन- विनयः परिहार शुद्धि विनयः, सूक्ष्म संपराय विनयः तथा यथाख्यात विनयश्चेति। उपचार विनयः स्त्वनेक विधः।

*** सूत्रार्थ** - ज्ञान, दर्शन, चारित्र और उपचार - ये विनय के चार भेद है।

* विवेचनामृतम् *

प्रायश्चित्त के भेदों का विशद निरूपण करने के पश्चात् क्रमानुसार विनय के भेदों का निरूपण करते हुए सूत्रकार कहते हैं कि विनय के चार भेद होते हैं। उनके नाम है- १. ज्ञान विनय २. दर्शनविनय ३. चारित्र विनय ४. उपचार विनय।

गुणरूप में **'विनय'** वस्तुत एक ही है किन्तु विषय दृष्टि की अपेक्षा से ये चार भेद वर्णित है:-

१. **ज्ञान विनय** - ज्ञान प्राप्त करना, शास्त्राभ्यास करना तथा ज्ञानाभ्यास को न भूलना- **'ज्ञान विनय'** कहलाता है।

२. **दर्शन विनय** - तत्त्व की यथार्थ प्रतीति स्वरूप सम्यग् दर्शन से विचलित न होना, उसके प्रति उत्पन्न होने वाली शंकाओं का समाधान करके निःशंकभाव से साधना करना **'दर्शनविनय'** कहलाता है।

३. सामायिक आदि चारित्रों में चित्त का समाधान रखना **चारित्रविनय** कहलाता है।

४. अपने से सद्गुणों में श्रेष्ठ, गुरूजनों आदि के प्रति शिष्ट व्यवहार विनम्र आचरण करना जैसे- उनके सम्मुख जाना, वन्दन करना, उन्हें प्रथमतः आसन प्रदान करना, श्रेष्ठजनों के समागम के समय अपना आसन छोड़कर खड़े होना- आदि **उपचारविनय** कहलाता है।

※ वैयावृत्य भेदाः ※

卐 सूत्रम् -

आचार्योपध्यायतपस्वि शैक्षकग्लानगण कुलसङ्घ साधु समनोज्ञानाम् ॥२४॥

卐 सुबोधिका टीका 卐

आचार्योपध्योयेति। वैत्यावृत्यस्य दशभेदाः सन्ति आचार्यः, उपाध्यायः, तपस्वी, शैक्षकः, ग्लानः, गणः, कुलः, संघः, साधुः समपनोज्ञश्चेति। वैयावृत्यं तावत् सेवारूपः। सेवायोग्यानां सङ्ख्या दश वर्तते। अतएव वैयावृत्यस्य दशभेदाः सन्ति। तद् यथा- आचार्य वैयावृत्यम्, उपाध्याय वैयावृत्यम् तपस्वि वैयावृत्यम, शैक्षिकवैयावृत्यम्, ग्लानवैयावृत्यम्, कुलवैयावृत्यम्, गणवैयावृत्यम्, संघ वैयावृत्यम्, साधुवैयावृत्यम्, समनाज्ञ वैयावृत्यमिति।

मुख्यरूपेण यस्य कार्यं व्रतप्रदानम् आचारण शिक्षणं च भवति स **आचार्यः**। मुख्यतः यस्य कार्यं श्रुताभ्यास शिक्षणं भवति स **उपाध्यायः**। महतः उग्रस्य वा तपसः कर्त्ता **'तपस्वी'**। नवदीक्षितो भूत्वा शिक्षार्थी (विद्यार्थी) शैक्षः। शिक्षामर्हतीति शैक्षः। रोगादिभिः क्षीणः **ग्लानः**। स्थविर संतति संस्थितिर्गणः। आचार्यसंततिसंस्थितिः कुलम्। चतुर्विधः श्रमण-श्रमणी-श्रावक-श्राविका रूपः संघः। प्रवज्या धारिणः **साधवः**। ज्ञानादिगुणैः समानाः समानशीलाः समनोज्ञाः। एतेषां सेवा-शुश्रुषा नाम वैयावृत्यम्।

※ **सूत्रार्थ** - वैयावृत्य दश प्रकार का होता है- आचार्य वैयावृत्य, उपाध्याय वैयावृत्य, तपस्विवैयावृत्य, शैक्षिक वैयावृत्य, ग्लानवैयावृत्य, गणवैयावृत्य, कुलवैयावृत्य, संघवैयावृत्य, साधुवैयावृत्य, समनोज्ञवैयावृत्य।

※ विवेचनामृतम् ※

वैयावृत्य, सेवा, शुश्रुषा, पर्युपासना आदि अनेक नामों से जैन धर्म में व्याख्यात है। वस्तुतः इसका जीवन के साथ घनिष्ट सम्बन्ध है। इसमें **'परस्परोपग्रहो जीवानाम्'** तथा परस्परं भावयन्तः श्रेयः परमावाप्स्यथ की अनुस्यूतता/एकात्मकता अनुभूत होती है।

भगवान् महावीर स्वामी से एक बार गणधर गौतम ने प्रश्न किया- प्रभो वैयावृत्य का आपने बहुत महत्व बताया है किन्तु कृपया यह भी बताइये कि इस वैयावृत्य के द्वारा आत्मा को किस फल की प्राप्ति होती है-

भगवान् महावीर स्वामी ने कहा-

वेयावच्चेणं तित्थयर नाम गोयं कम्म निबंधेइ[1]

---

१. उत्तराध्ययन - २९/३

वैचावृतय करने से आत्मा तीर्थंकर नाम गोत्रकर्म का उपार्जन करता है- यह है वैयावृत्य का उत्कृष्ट फल। जिसके आचरण से आत्मा संसार के सर्वोत्कृष्ट पद पर सुशोभित हो सकता है।वैयावृत्य, सेवा स्वरूप है। अत: दश प्रकार के सेवा योग्य पात्रों के होने के कारण वैयावृत्य के दश प्रकार कहे गये हैं। **स्थानागसूत्र एवं भगवती** सूत्र में भी कहा है-

दशविहे वेयावच्चे पण्णते तं जहा[२]

दस प्रकार की वैयावृत्य होती है-

१. **आयरिय वेयावच्चे** - आचार्य की सेवा

२. **उवज्झाय वेयावच्चे** - उपाध्याय की सेवा

३. **थेर वेयावच्चे** - स्थविर की सेवा

४. **तवस्सि वेयावच्चे** - तपस्वी की सेवा

५. **गिलाण वेयावच्चे** - रोगी की सेवा।

६. **सेह वेयावच्चे** - नव दीक्षित मुनि की सेवा।

७. **कुल वेयावच्चे** - एक आचार्य के शिष्यों का समुदाय कुल कहलाता है, उसकी सेवा करना कुल-वेयावृत्य।

८. **गण वेयावच्चे** - एक अथवा दो से अधिक आचार्य के शिष्यों का समुदाय गण कहलाता है। गण की सेवा को गण वैयावृत्य कहते हैं।

९. **संघ वेयावच्चे** - संघ की सेवा। अनेक गणों के समूह को संघ कहते हैं। मौलिक रूप से साधु-साध्वी, श्रावक-श्राविका का समूह एक संघ कहलाता है।

१०. **साहम्मिय वेयावच्चे** - साधर्मिक की सेवा। समान धर्म वाले साधर्मिक कहलाते हैं किन्तु यहाँ साधु के लिए साधु साधर्मिक तथा गृहस्थ के लिए गृहस्थ-साधर्मिक अर्थ अभीष्ट है।

श्री उमास्वाति ने भी इसी आशय को सुस्पष्ट करने की भावना से वैयावृत्य के दस प्रकार- आचार्य, उपाध्याय, तपस्वी, शैक्ष, ग्लान, गण, कुल संघ, साधु और समनोज्ञ के रूप में बताए हैं।

१. मुख्य रूप से जिसका कार्यव्रत और आचार ग्रहण कराना होता है वह आचार्य है। आचार्य की सेवा आचार्य वैयावृत्य कहलाता है।

२. मुख्य रूप से जिसका कार्य श्रुताभ्यास करना हो उसे, उपाध्याय कहते हैं। उपाध्याय की सेवा उपाध्याय-वैयावृत्य कहलाता है।

---

२. स्थानांग - १०।
भगवती सूत्र - ३५/७

३. महान् तथा उग्र तपस्या करने वाला तपस्वी कहलाता है तथा तपस्वी की सेवा करना **'तपस्वी वैयावृत्य'** कहलाता है।

४. नवदीक्षित होकर शिक्षण प्राप्त करने वाला **'शैक्ष'** कहलाता है। शैक्ष की सेवा शैक्ष वैयावृत्य।

५. रोग आदि से क्षीण/ग्लान को ग्लान कहते हैं। उसका वैयावृत्य **'ग्लान वैयावृत्य'** कहलाता है।

६. भिन्न-भिन्न आचार्यों के शिष्य रूप साधु यदि परस्पर सहाध्यायी होने के कारण समान वाचना वाले हों तो उनका समुदाय **'गण'** कहलाता है। गण की सेवा को गण वैयावृत्य कहते हैं।

७. एक आचार्य द्वारा दीक्षा प्राप्त-शिष्य परिवार **'कुल'** है। कुल की सेवा को कुल वैयावृत्य कहते हैं।

८. धर्म का अनुयायी समुदाय **'संघ'** कहलाता है। जो कि साधु-साध्वी, श्रावक-श्राविका के प्रकार से चतुर्विध संघ कहलाता है।

९. पंचम महाव्रत - दीक्षा धारी को **'साधु'** कहते हैं। साधु की सेवा **'साधु वैयावृत्य'** है।

१०. ज्ञान दक्षता आदि गुणों में समान समानशील या समनोज्ञ कहलाता है।

इस वैयावृत्य को समनोज्ञ वैयावृत्य या साधर्मिक वैयावृत्य कहते हैं।

❊ स्वाध्याय भेदाः ❊

卐 सूत्रम् -

वाचना प्रच्छनानुप्रेक्षाम्नाय धर्मोपदेशाः ॥२५॥

卐 सुबोधिका टीका 卐

वाचनेति। ज्ञानावावये, सन्देशनिवारणाय विशद-परिपक्व बोधोपगमाय, ज्ञान प्रचाराय प्रसाराय च प्रयत्नाः खलु + **स्वाध्याय** रूपेण व्यवहृताः सन्ति शास्त्रेषु।

अभ्यासानुगमशैलीमनुसृत्यात्र क्रमशः पञ्च भेदाः सूत्रे प्रदर्शिताः सन्ति-वाचना-प्रच्छना-अनुप्रेक्षा-आम्नाय-धर्मोपदेशाः।

शब्दमात्रस्य सार्थस्य वा प्रथमः पाठः **वाचना** कथ्यते। शङ्कामपनेतुं तत्त्वनिर्णेतुं जिज्ञासा प्रच्छना कथ्यते। शब्दपाठस्य, अधीत विषयार्थस्य वा चिन्तनम अनुप्रेक्षा कथ्यते। पठित विषयस्य

पौन:पुन्येन शुद्धोच्चारणम् पुनरावर्तनम्-आम्नायो नाम। ज्ञात वस्तुनो विषयस्य वा रहस्योद्घाटनं तत्त्वार्थप्रवचन नाम धर्मोपदेश:।

*** सूत्रार्थ** - वाचना प्रच्छना अनुप्रेक्षा आम्नाय तथाा धर्मोपदेशा-ये पांच स्वाध्याय के भेद हैं।

* विवेचनामृतम् *

आचार्य श्री अभयदेव सूरि ने स्थानंग टीका में स्वाध्याय की परिभाषा प्रस्तुत करते हुए कहा है- सुष्ठु आ मर्यादया अधीयते इति स्वाध्याय: इति स्वाध्याय: १ सत् शास्त्रों को मर्यादा पूर्वक पढ़ना, विधि सहित अनुशीलन करना स्वाध्याय कहलाता है। स्वाध्याय, मन को निर्मल, शुद्ध बनाने की प्रक्रिया है। स्वाध्याय जीवन-विकास की सीढ़ी है।

भगवान् महावीर स्वामी ने **उत्तराध्ययन** में कहा है-

सज्झाएवा निउत्तेण सव्वदुक्खविमोक्खणो[२]

स्वाध्याय करते रहने से समस्त दु:खों से मुक्ति मिलती है। जन्म-जन्मान्तर के अनेक कर्म, स्वाध्याय से क्षीण हो जाते हैं।[३]

भगवती सूत्र में स्वाध्याय के पांच प्रकार बताते हुए कहा गया है-

सज्झाए पंचविहे पण्णत्ते तं जहा-
वायणा, पडिपुच्छणा परियट्टाणा, अणुप्पेहा धम्मकहा।[४]

स्वाध्याय के पांच प्रकार हैं- वाचना, पृच्छना परिवर्तना, अनुप्रेक्षा, तथा धर्मकथां।

उमास्वाति महाराज ने भी इसी तच्च को प्रस्तुत सूत्र के माध्यम से प्रस्तुत किया है।

१. **वाचना** - शब्द (मूल पाठ) या अर्थसहित पाठ का वाचन-**'वाचना'** कहलाता है।

२. शंका/संदेह दूर केने के लिए या किसी विशेष निर्णय के लिए ज्ञानी से पूछना **'पृच्छना'** कहलाता है।

३. शब्द, पाठ, विषय या उसके अर्थ का निरन्तर चिन्तन-मनन **'अनुप्रेक्षा'** कहलाता है।

४. ज्ञात वस्तु या विषय का बार-बार शुद्धोच्चारण पुररावर्तन या **'आम्नाय'** कहलाता है।

---

१. स्थानांग टीका ५/३/४६५
२. उत्तराध्ययन २६/१०
३. चन्द्रप्रज्ञप्ति - ९२
४. भगवती सूत्र २५/७

५. ज्ञात वस्तु या विषय के तात्त्विक रहस्य को समझना धर्मकथा या **धर्मोपदेश** कहलाता है।

※ व्युत्सर्गभेदाः ※

卐 सूत्रम् -

बाह्याभ्यन्तरोपध्योः ॥२६॥

卐 सुबोधिका टीका 卐

बाह्येति। ममता निवृत्ति रूपो व्युत्सर्गः=त्यागः एक एव किन्तु त्याज्यवस्तुनः बाह्याभ्यन्तर रूपेण द्विधात्वमस्ति। अतएव त्यागोऽपि द्विविधः बाह्योपधिरूपः, आभ्यान्तरोपधिरूपः।

धन-धान्य-भवन-क्षेत्रादि बाह्य-पदार्थानां ममता त्यागो बाह्योपधि-व्युत्सर्गः। शारीरिक-काषायिक विकाराणां ममता त्यागः आभ्यन्तरोपधि व्युत्सर्गः।

※ सूत्रार्थ - बाह्य और आभ्यन्तर उपधि का त्याग ये व्युत्सर्ग (त्याग) के दो भेद हैं।

※ विवेचनामृतम ※

ममता की निवृत्ति के रूप में व्युत्सर्ग अर्थात् त्याग एक प्रकार का ही होता है किन्तु त्याज्य वस्तु या विषय के बाह्य व आभ्यन्तर भेद होने के कारण व्युत्सर्ग के भी दो प्रकार बताये गए हैं- १. बाह्य व्यत्सर्ग २. आभ्यन्तर व्युत्सर्ग।

१. **बाह्य व्युत्सर्ग** - धन, धान्य, भवन क्षेत्र आदि बाह्य पदार्थों की ममता का त्याग करना बाह्य व्युत्सर्ग कहलाता है।

२. **आभ्यन्तर व्युत्सर्ग** - देह की अहंता-ममता का त्याग करना एवं कषाय सम्बन्धी विकारों की एकाग्रता का त्याग करना आभ्यन्तर व्युत्सर्ग कहलाता है।

पांचवें आभ्यन्तर तप का नाम व्युत्सर्ग है। यह बाह्य-आभ्यन्तर के भेद से दो प्रकार का होता है। ध्यातव्य है कि कायोत्सर्ग आदि करने को व्युत्सर्ग प्रायश्चित कहते हैं तथा परिग्रह के त्याग को व्युत्सर्ग कहते हैं।

शरीर, भोग, यश, प्रतिष्ठा आदि समस्त तत्त्वों के प्रति अनासक्ति, निर्ममता ही व्युत्सर्ग का मौलिक अर्थ है। भगवान् महावीर स्वामी ने आचारांग में कहा-

जे ममाइय मइं जहाइ मे, जहाइ ममाइयं।
सेहु दिट्ठपहे मुणी जस्स णत्थि ममाइयं॥[1]

---

१. उत्तराध्ययन - २९/३

अर्थात् जिसने ममत्व वृत्ति का त्याग कर दिया है। वास्तव में उसी ने संसार का त्याग कर दिया है। वास्तव में उसी ने मोक्ष का मार्ग देखा है, जिसके मन में किसी भी भौतिक वस्तु के प्रति, शरीर के प्रति भी ममत्व नहीं है। संसार का सबसे बड़ा बन्धन है- **'ममत्व'**।

ममत्व बुद्धि के परिहार के लिए प्रदर्शित उपायों एवं साधनो में प्रमुख है- व्युत्सर्ग।

卐 सूत्रम् -

उत्तम संहननस्यैकाग्र चिन्तानिरोधो ध्यानम् ॥२७॥

आमुहूर्तात्॥२८॥

卐 सुबोधिका टीका 卐

उत्तमेति। वज्रर्षभ संहननार्द्धवज्र संहनन-नाराच-संहननानि तावत् उत्तम संहननानि कथ्यन्ते। एतैः संहननै र्युक्तो जीवो यदा एकाग्रचित्तो भूत्वा चिन्ता निरोधं करोति तद् ध्यानम् उच्यते।

उत्तम संहननवत एकस्मिन् विषये अन्तःकरण वृत्तेः स्थापनं ध्यानमिति भावः।

तद्ध्यानं मुहूर्तं यावत् अन्तमूहूर्तपर्यन्त मेव भवतीति तात्पर्येणाह- **आ मुहूर्त्ता दिति।** आचार्य हेमचन्द्र सूरिणापि योगशास्त्रे वर्णितम् **मुहूर्तान्तर्मनः स्थैर्यं ध्यानं छद्मस्थ योगिनाम्।**

*** सूत्रार्थ** - उत्तम संहनन वाले का एक विषय में अन्तः करण की वृत्ति का स्थापन ध्यान कहलाता है ॥२७॥

वह ध्यान मुहूर्त पर्यन्त या अन्तमुहूर्त पर्यन्त रहता है॥२८॥

* विवेचनामृतम् *

छः प्रकार के संहननों/शारीरिक संघटनों में वज्रर्षभ अर्धवज्रर्षभ और नाराच- ये तीन उत्तम माने जाते हैं। उत्तम संहनन वाला ही ध्यान का अधिकारी होता है।

ध्यान, अधिक से अधिक एक मुहूर्त तक होता है। ध्यान के सन्दर्भ में अधिकारी, स्वरूप और काल का परिणाम- ये तीन तथ्य शास्त्रों में उल्लिखित है-

१. **अधिकारी** - षट् प्रकार के संहननों (निरोधों) में वज्रर्षभ नाराच, अर्धवज्रर्षभ नाराच और नाराच ये तीन उत्तम माने जाते हैं। उत्तम संहनन वाला ही ध्यान का अधिकारी होता है क्योंकि ध्यान करने में आवश्यक मानसिक बल के लिए जितना शारीरिक बल आवश्यक है- वह उक्त तीन संहनन वाले शरीर में संभव हैं, शेष तीन संहनन वाले में नहीं। मानसिक बल का एक प्रमुख आधार शरीर है और शरीर बल शारीरिक संघटन पर निर्भर करता है। अतः उत्तम संहनन वाले के

अतिरिक्त दूसरा कोई ध्यान का अधिकारी नहीं है। शारीरिक संघटन जितना कम होगा उतना ही मानसिक बल भी कम होगा और मानसिक बल जितना कम होगा उतनी ही चित्त की स्थिरता भी कम होगी। इसलिए कमजोर शारीरिक संघटन या अनुत्तम संहनन वाला किसी भी प्रशस्त विषय में जितनी एकाग्रता साध सकता है वह इतनी कम होती है कि ध्यान में उसकी गणना ही नहीं हो सकती।

२. **स्वरूप** – सामान्यत: क्षण में एक क्षण में, दूसरे क्षण में, तीसरे- ऐसे अनेक विषयों का अवलम्बन करके ज्ञान धारा विभिन्न दिशाओं से बहती हुई हवा में स्थित दीपशिखा की तरह अस्थिर रहती है। ऐसी ज्ञानधारा-चिन्ता को विशेष प्रयत्न पूर्वक शेष विषयों से हटाकर किसी एक ही इष्ट विषय में स्थिर रखना अर्थात् ज्ञानधारा को अनेक विषय गामिनी न बनने देकर एक विषय गामिनी बना देना ही ध्यान है। ध्यान का यह स्वरूप असर्वज्ञ (छद्मस्थ) में ही सम्भव है। अतएव ऐसा ध्यान बारहवें गुणस्थान तक होता है।

सर्वज्ञत्व प्राप्त होने के पश्चात् अर्थात् तेरहवें तथा चौदहवें गुणस्थानों में भी ध्यान स्वीकार तो अवश्य किया गया है परन्तु उसका स्वरूप भिन्न है। तेरहवें गुणस्थान के अन्त में जब मानसिक वाचिक तथा कायिक योग-व्यापार के निरोध का क्रम प्रारम्भ होता है तब स्थूलकायिक व्यापार के निरोध के बाद सूक्ष्म कायिक व्यापार के अस्तित्व के समय में सूक्ष्म क्रिया प्रतिपाती नामक तीसरा शुक्ल ध्यान माना जाता है और चौदहवें गुणस्थान की सम्पूर्ण अयोगीपन की दशा में शैलेशीकरण के समय में समुच्छिन्न क्रिया निवृत्ति नामक चौथा शुक्ल ध्यान माना जाता है। ये दोनों ध्यान उक्त दशाओं में चित्त व्यापार न होने से छद्मस्थ की तरह एकाग्रचिन्ता निरोध रूप तो है ही नही अत: उक्त दशाओं में ध्यान को घटाने के लिए सूत्रगत प्रसिद्ध अर्थ के उपरान्त **'ध्यान'** शब्द का विशेष स्पष्ट किया गया है कि केवल कायिक स्थूल व्यापार के निरोध का प्रयत्न भी ध्यान है और आत्म प्रदेशों की निष्प्रकम्पता भी ध्यान है।

इसके पश्चात् भी ध्यान के विषय में एक प्रश्न उठता है कि तेरहवें गुणस्थान के प्रारम्भ से योगनिरोध का क्रम शुरु होता है तब तक की अवस्था में अर्थात् सर्वज्ञ हो जाने के बाद की स्थिति में क्या कोई ध्यान होता है?

इस प्रश्न का उत्तर दो प्रकार से मिलता है- १. विहरमाण सर्वज्ञ की दशा में ध्यानान्तरिका कहकर उसमें अध्यानित्व ही मानकर कोई ध्यान स्वीकार नहीं किया गया है।

२. सर्वज्ञ दशा में मन, वचन और शरीर के व्यापार सम्बन्धी सुदृढ़ प्रयत्न को ही 'ध्यान' माना जाता है।

३. **काल परिमाण** – उपर्युक्त एक ध्यान अधिक से अधिक अन्तर्मुहूर्त तक ही टिकता है बाद में उसे टिकाना कठिन है, अत: उसका काल परिमाण अन्तर्मुहूर्त है।

कुछ लोग खास-उच्छवास रोके रखने को ही ध्यान मानते हैं तथा अन्य कुछ लोग मात्रा से काल की गणना करने को ध्यान मानते हैं परन्तु जैन परम्परा में यह कथन स्वीकार नहीं किया गया है क्योंकि यदि सम्पूर्णतया श्वास-उच्छवास क्रिया रोक दी जाय तो शरीर ही नहीं टिकेगा। अत: मन्द या मन्दतम श्वास का संचार तो ध्यानावस्था में भी रहता ही है।

अन्तर्मुहूर्त का काल परिमाण छद्मस्थ के ध्यान का है। सर्वज्ञ के ध्यान का कालपरिमाण तो अधिक भी हो सकता है क्योंकि सर्वज्ञ, मन, वचन और शरीर के प्रवृत्ति विषयक सुदृढ़ प्रयत्न को अधिक समय तक संवर्धित कर सकता है।

जिस आलम्बन पर ध्यान चलता है, वह आलम्बन सम्पूर्ण द्रव्यरूप न होकर उसका एक देश (पर्याय) होता है क्योंकि द्रव्य का चिन्तन उसके किसी न किसी पर्याय द्वारा ही सम्भव होता है ॥२७-२८॥

❊ ध्यानस्य भेदाः ❊

卐 सूत्रम् -

आर्त रौद्र धर्म शुक्लानि ॥२९॥

卐 सुबोधिका टीका 卐

आर्तेति। पूर्वकथितस्य ध्यानस्य चत्वारो भेदा: सन्ति। तद्यथा-आर्तध्यानम् रौद्रध्यानम्, धर्मध्यानम्, शुक्लध्यानम् चेति। अर्तिर्नाम दु:खम्, अर्ते: भाव: सम्बन्धो वेति आर्तम्। आर्तञ्च तद् ध्यानमार्तध्यानम्।

क्रोधादियुक्त भाव: रौद्र शब्देन कथ्यते। रौद्राञ्च तद् ध्यानमिति रौद्रध्यानम्। यस्मिन् ध्याने धर्मस्य वासनाया: वा विच्छेदो न भवति तद् धर्मध्यानं कथ्यते। क्रोधादिकषाय निवृत्ति पूर्वकं यत्र शुचिता-पवित्रता प्रतिष्ठिता तद् ध्यानं शुक्लध्यानं कथ्यते।

❊ **सूत्रार्थ** - ध्यान के चार भेद होते है- आर्तध्यान, रौद्रध्यानम, धर्मध्यान और शुक्लध्यान।

❊ विवेचनामृतम् ❊

आर्तध्यान, रौद्रध्यान, धर्मध्यान तथा शुक्लध्यान के भेद से ध्यान के चार प्रकारों का वर्णन किया गया है।

अर्ति = पीड़ा से सम्बन्धित ध्यान को **आर्त ध्यान** कहते हैं। आर्त का अर्थ है- दु:ख, पीड़ा, चिन्ता शोक आदि से सम्बन्धित भावना। जब भावना में दीनता मन में उदासीनता, निराशा एवं रोग

आदि से व्याकुलता, अप्रिय वस्तु के वियोग से क्षोभ तथा प्रिय वस्तु के वियोग से शोक आदि के संकल्प मन में उठते हैं तब मन की स्थिति बड़ी दयनीय एवम् अशुभ हो जाती है। इस प्रकार के विचार जब मन में गहरे जम जाते हैं और मन उनमें खो जाता है, चिन्ता-शोक के समुद्र में डूब जाता है तब वह आर्तध्यान की कोटि में पहूंच जाता है। ये विचार कई कारणों से जन्म लेते हैं।- आर्तध्यान के चार कारण एवं चार लक्षणों के सन्दर्भ में आगम शास्त्रीय वर्णन प्राप्त होता है -

१. **अमणुन्नसंपओग** - अमनोज्ञ संप्रयोग-अप्रिय अनचाही वसतु का संयोग होने पर उससे पिंड छुड़ाने की चिन्ता करना कि कब यह वस्तु दूर हटे। जैस भयंकर गर्मी हो, कड़कड़ाती सर्दी हो तब उससे छुटकारा पाने के लिए तड़पना। किसी दुष्ट या अप्रिय आदमी का साथ हो जाये तो यह चाहना कि यह कैसे मेरा साथ छोड़े- इन विषयों की चिन्ता जब गहरी हो जाती है तो चिन्ता, मन को कचोटने लगती है और मनष्य भीतर ही भीतर बहुत दु:ख, क्षुब्धता, व्याकुलता का अनुभव करता है। यही गहरी व्याकुलता अमनोज्ञ संप्रयोग-जनित है अर्थात् अनिष्ट के संयोग से यह चिन्ता उत्पन्न होती है तथा अमनोज्ञ-वियोग चिन्ता की तीव्र लालसा रूप आर्तध्यान का प्रथम कारण है।

२. **मणुन्न संपओग** - मनोज्ञ संप्रयोग- मनचाही वस्तु के मिलने पर, जो प्रसन्नता व आनन्द आता है, उस वस्तु का वियोग होने पर विलीन हो जाता है और आनन्द से अधिक दु:ख व पीड़ा का अनुभव होता है। प्रिय का वियोग होने पर मन में जो शोक की गहरी घटा उमड़ती है वह मनुष्य को बहुत सदमा पहूंचाती है, उससे दिल को गहरी चोट लगती है और आदमी पागल-सा हो जाता है। अप्रिय वस्तु के संयोग से जितनी चिन्ता होती है, प्रिय के वियोग में उससे अधिक चिन्ता व शोक की कसक उठती है। **आर्तध्यान का यह दूसरा कारण है- मनोज्ञ वस्तु के वियोग की चिन्ता।**

३. **आयंक सम्पओग** - आतंक-सम्प्रयोग/ आतंक नाम है- रोग का, बीमारी का। रोग हो जाने पर मनुष्य उसकी पीड़ासे व्यथित हो जाता है और उसे दूर करने के विविध उपाय सोचने लगता है। रोगी, व्यक्ति,पीड़ित होकर कभी आत्महत्या तक कर लेता है। वह रोग की पीड़ा से छुटकारा पाने के लिए बड़े से बड़ा पाप व हिंसा आदि के विषय में सोचने लगता है- यह रोग चिन्ता आर्तध्यान का तीसरा कारण है।

४. **परिजुसिय काम-भोग संपओग** - प्राप्त काम-भोग सम्प्रयोग अर्थात् काम, भोग आदि की जो सामग्री, जो साधन उपलब्ध हुए है, उनको स्थिर रखने की चिन्ता कि ये कहीं छूट न जाये और भाविष्य में उन्हें बनाये रखने की चिन्ता तथा अगले जन्म में भी वे काम भोग कैसे प्राप्त हों ताकि मैं वहाँ भी सुख व आनन्द प्राप्त कर सकूँ- इस प्रकार का चिन्तन चिन्ता और भविष्य की आकुलता आर्तध्यान का चौथा कारण है। इस आर्तध्यान में भविष्य चिन्ता की प्रमुखता रहती है। अत: इसे **निदान** माना जाता है।

जो जीव आत्मा, आर्तध्यान करता है उसकी आकृति बड़ी दीन-शोक-संतप्त तो रहती ही है। कभी-कभी तो यह व्याकुलता सीमा भी लांघ जाती है।

आर्तध्यान की स्थिति का दिग्दर्शन कराने के लिए उसके चार लक्षण इस प्रकार हैं -

१. **क्रन्दनता** - रोना, विलाप करना।

२. **शोचनता** - शोक करना/चिन्ता करना।

३. **तिप्तणता** - आंसू बहाना।

४. **परिवेदना** - ह्रदयावर्जक शोक, उदासी।

ये चारों लक्षण मन की व्यथित दशा के सूचक हैं।

रौद्रध्यान - रौद्रध्यान में क्रूरता एवं हिंसक भावों की प्रधानता रहती है। रौद्रध्यान, आत्मघात के साथ-साथ पराघात भी करता है। दु:खी व्यक्ति जब अपना दु:ख दूर होता नही देखता है तो दूसरों की सहानुभूति और सहयोग की जगह अपमान व प्रताड़ना पाता है तो वह आक्रामक हो जाता है। यह आक्रामक भावना जब तक उसके चिन्तन में रहती है तब तक **रौद्रध्यान** होता है किन्तु आचरण में परिणत होते ही यह-**रौद्र आचरण** का रूप ले लेती है।

शास्त्रों में रौद्रध्यान की उत्पत्ति के चार कारण बताए गए हैं -

१. **हिंसाणुवंधी** - किसी को मारने, पीटने या हत्या आदि करने के सम्बन्ध में चिन्तन करना, गुप्त योजनायें बनाने के लिए विचार करना-**हिंसानुबन्धी रौद्रध्यान** कहलाता है।

२. **मोसाणुबंधी** - दूसरों को ठगने, धोखा देने, छल, प्रपंच करने सम्बन्धी सोच रखना, सत्य तथ्यों का अर्थ बदलकर लोगों को गुमराह करने सम्बन्धी चिन्तन मृषानुबंधी रौद्रध्यान कहलाता है।

३. **तेयाणुबंधी** - चोरी, लूट, खसोट आदि उपायों व उनके साधनों पर विचार करना, चोरी के नये-नये रास्ते सोचते रहना, या उसे छिपाना स्तेयानुबन्धी रौद्रध्यान कहलाता है।

४. **सारक्खाणुबंधी** - जो धन, वैभव, पद प्रतिष्ठा आदि साधन एवं भोग-विलास की सामग्री प्राप्त है- उसके संरक्षण की चिन्ता करना तथा उसके सुख-भोग में बाधक की हत्या आदि करके अपने सुख का मार्ग निष्कंटक करने सम्बन्धी चिन्तन **संरक्षणानुबंधीरौद्रध्यान** कहलाता है।

❊ धर्मध्यान ❊

धर्म का आशय है- आत्मा को पवित्र करने वाला तत्त्व। जिस आचरण से आत्मा की विशुद्धि होती है- उसे **धर्म** कहते हैं। धार्मिक विचारों में आत्मशुद्धि के साधनों में मन को एकाग्र करना 'धर्मध्यान' कहलाता है।[१]

---

१. दशवैकालिक अ.१, वृत्ति।

ध्यानाग्नि दग्धकर्मा तु,
सिद्धात्मा स्यान्निरञ्जनः।[१]

अर्थात, ध्यान रूपी अग्नि के द्वारा आत्मा, कर्म रूपी काष्ठ को जलाकर भस्म कर देता है तथा अपना शुद्ध-बुद्ध-सिद्ध निरंजन स्वरूप प्राप्त कर लेता है।

शान्ति एवं समाधि की कामना रखने वाले व्यक्ति को अतिरौद्रध्यान का परित्याग करके सदैव धर्म एवं शुक्लध्यान करना चाहिए। वस्तुतः ये दो ही ध्यान तप-स्वरूप है। भगवान् महावीर स्वामी ने कहा है-

अट्ट रूद्दाणि वज्जित्ता, झाएज्जा सुसमाहिए।
धम्म सुक्काइं झाणाइं झाण तं तु बुहा वए॥[२]

ज्ञैनागमों में धर्म ध्यान के चार प्रकार भी बताए गए हैं-

धम्मे झाणे चउव्विहे-पण्णत्ते तं जहा-
आणा विजए, अवाए विजए, विवागविजए, संठाण विजए॥[३]

१. **आज्ञाविचय** - विचय का अर्थ है- निर्णय या विचार करना। आज्ञा के सम्बन्ध में चिन्तन-**आज्ञाविचय** कहलाता है।

आज्ञा किसकी? के समाधान में कहा गया है कि उसकी आज्ञा मान्य होती है, जो आप्तपुरुष हो, वीतराग हो। आज्ञा ही वस्तुतः धर्म है। कहा भी है-

आणाए मामगं धम्मं[४]

जो धर्म है, वही वीतराग की आज्ञा है,

और जो उनकी आज्ञा है, वही धर्म है। आज्ञा में तप एवं संयम दोनों समाहित हैं-

आणा तवो आणाइ संजमो[५]

२. **अपाय विचय** - अपाय का यहाँ अर्थ है- दोष/दुर्गुण। आत्मा के साथ अनादि काल से मिथ्यात्व, अव्रत, प्रमाद, कषाय एवं अशुभ योग-रूपी दोष जुड़े हैं। इन दोषों के कारण ही आत्मा

---

१. योगशास्त्र (श्री हेमचन्द्राचार्य)
२. दशवैकालिक अ.१
३. भगवती सूत्र २५/७, स्थानांना-४/१
४. आचारांग - ६/२
५. सम्बोधसत्तरि ३२

जन्म-मरण के चक्र में भटक कर पीड़ा सन्ताप प्राप्त करता है। इसे कैसे कम किया जाए, किन साधनों से दोषों को दूर किया जाए-एतत् प्रकारक चिन्तन अपाय विचय कहलाता है। यह धर्म ध्यान का द्वितीय स्वरूप है।

३. **विपाक विचय** - शुभाशुभ कर्मों के विपाक परिणामों को ज्ञानी आत्मा समझता है-

सयमेव मकडेहिंगाहइ नो तस्स मुच्चेज्जडपुट्ठय[1]

आत्मा, स्वकृत कर्मों से ही बन्धन में पड़ता है और जब तक उन कर्मों को भोगा न जाये, तब तक उनसे मुक्ति नहीं मिलती। पाप-पुण्य कर्मों के दु:ख-सुखात्मक परिणामों का चिन्तन करना **'विपाक विचय'** कहलाता है। **सुखविपाक** एवं दु:ख विपाक में प्ररूपित दृष्टान्त अवश्य देखने चाहिए।

लोक के आकार एवं स्वरूप के विषय में चिन्तन करना, स्वर्ग-नरक के विषय में चिन्तन करना, आत्मा-भ्रमण के सन्दर्भ में चिन्तन करना नानाविध योनियों में दु:ख-वेदना का चिन्तन करना-संस्थान विचय कहलाता है।

इसमें नानाविध आकार स्वरूप का चिन्तन आत्माभिमुखी होता है।

卐 सूत्रम् -

परे मोक्षहेतू॥३०॥

卐 सुबोधिका टीका 卐

पर इति। धर्म-शुक्ल ध्याने मोक्षस्य कारणत्वात् सुध्याने, उपादेये स्त:। अर्थात् तेषां पूर्वोक्तानां चतुर्णां ध्यानानां परे धर्म-शुक्लध्याने मोक्षहेतू स्त:। आर्तरौद्रे तु संसार हेतू प्रथिते।

*** सूत्रार्थ** - धर्मध्यान और शुक्ल ध्यान मोक्ष के हेतु (कारण) हैं॥३०॥

* विवेचनामृतम् *

आर्तध्यान, रौद्रध्यान, धर्मध्यान तथा शुक्लध्यान- ये चार प्रकार के ध्यान हैं। इन चार ध्यानों में से धर्मध्यान एवं शुक्लध्यान मोक्ष हेतु हैं। धर्म तथा शुक्ल मोक्ष के कारण होने के कारण

---

१. सूत्रकृतांग - १।२।/१।४

उपादेय होते हैं। अति और रौद्र तो संसार-बन्धन के हेतु होने के कारण दुर्ध्यान हैं, त्याज्य हैं।

卐 सूत्रम् -

आर्त्तममनोज्ञानां सम्प्रयोगे तद्विप्रयोगाय स्मृतिसमन्वाहारः ॥३१॥

卐 सुबोधिका टीका 卐

आर्तमिति। अमनोज्ञानाम्=अमनोहरणां विषयाणां-सम्प्रयोगः=संयोगः अनिष्टः तस्मिन्-अनिष्टविषयसंयोगे सति तद्विप्रयोगाय=वियोगाय यः पौनः पुन्येन विचारः क्रियते, तदनिष्ट संयोगनामकम् आर्तध्यानमुच्यते।

अमनोज्ञपदार्थसंयोगे सति तद्वियोगस्य चिन्ता द्विधा भवति। एका चिन्ता संयोगात् पूर्वम् अपरा तु संयोगात् पश्चात्। अनिष्ट संयोगे सति तु तद्वियोगाय चिन्तनं भवति। संयोगात् पूर्व तु अनिष्ट पदार्थ संयोगो मा भूत्-एतत्-प्रकारकं चिंतनमिति दिक्।

*** सूत्रार्थ** - अप्रिय पदार्थ के प्राप्त होने पर उसके वियोग के लिए हमेशा चिन्ता करना-अनिष्ट संयोग नामक पहला आर्तध्यान है॥३१॥

* विवेचनामृतम् *

अरमणीय अमनोहर पदार्थों का संयोग होने पर उनके निवारण के सन्दर्भ में सहज रूप से चिन्ता होती है। यह अनिष्टसंयोग निवारणार्थ होने वाली चिन्ता ही अनिष्ट वस्तु संयोग **'आर्तध्यान'** कहलाती है।

अर्थात् अनिष्ट पदार्थ संयोग के कारण तज्जन्य कष्ट को दूर करने के लिए जो सतत चिन्ता की जाती है वह **अनिष्ट संयोग आर्तध्यान** कहलाता है।

卐 मूलसूत्रम् -

वेदनायाश्च॥३२॥

卐 सुबोधिका टीका 卐

वेदनायाश्चेति। अमनोज्ञायाः-वेदनायाः - सम्प्रयोगे=संयोगे सति तद्वियोगाय तदपनयनाय मुहुर्मुहुश्चिन्तनं, विप्रयाक्तुं वा चित्तवैकल्यम् आर्तध्यानम् अर्थात् दुःखे समापतिते सति तन्निवारणार्थं सततं चिन्तनम् आर्तध्यानमिति।

*** सूत्रार्थ** - दुःख (वेदना) के आने पर उसकी निवृत्ति के लिए बारम्बार चिन्तित रहना-दूसरा आर्तध्यान कहलाता है।

❊ विवेचनामृतम् ❊

अर्ति का अर्थ है- पीड़ा, वेदना, दु:ख। अर्तिजन्य ध्यान को आर्तध्यान कहते हैं। अर्ति/दु:ख की उत्पत्ति के प्रमुख चार कारण हैं- १. अमनोज्ञ/अनिष्ट वस्तु संयोग २. इष्ट वस्तु का वियोग ३. प्रतिकूल वेदना ४. भोगलालसा। इनके कारण ही चार प्रकार के आर्तध्यान शास्त्रों में वर्णित हैं।

जो जीवात्मा आर्तध्यान करता है- उसकी आकृति दीन-हीन म्लान सी शोक संतप्त सी दृष्टि गोचर होती है किन्तु कभी-कभी तो यह स्थिति, चिन्ता एवं व्याकुलता की स्थिति को लांघ जाती है। रोना, सिर पीटना, छाती पीटना आदि तक पहूँच जाती है।

आर्तध्यानी की स्थिति को स्पष्ट करने के लिए भगवती सूत्र में कहा है-

अट्टस्स णं झाणस्स चत्तारि लक्खणा।
कंदणया, सायणया, तिप्पणया, परिदेवनया।[1]

अर्थात् इन लक्षणों से आर्तध्यानी की पहचान सम्भव है-

१. **क्रन्दनता** - विलाप करना, चींखना-चिल्लना।

२. **शोचनता** - शोक-चिन्ता करना।

३. **तिप्पणता** - आँसू बहाना।

४. **परिवेदना** - ह्यदयघातक शोक करना, फूट-फूट कर रोना, छाती पीटना आदि।

इसी तत्त्व को आत्मसात् करके श्री उमास्वाति ने वेदनायाश्च सूत्र के माध्यम से स्पष्ट किया है कि वेदना का संयोग हो जाने पर उसके निवारण के लिए पुन: पुन: विचार या चिन्तन करना- द्वितीय आर्तध्यान कहलाता है।

卐 मूल सूत्रम् -

विपरीतं मनोज्ञानाम्॥३३॥

卐 सुबोधिका टीका 卐

विपरीतमिति। प्रियवस्तुनो वियोगे सति तदवात्ये सततं यत्र चिन्ता प्रवर्तते तत् तृतीयम् आर्तध्यानमिति। यदा-अभीष्टरमणीयविषयाणां संयोगान्ते वियोगो भवति तदा तत् प्राप्तते मुहुर्मुहु: चिन्तनम् आर्तध्यानमुच्यते। इदञ्च इष्ट वियोगनामकम् आर्तध्यानम्।

---

१. भगवती सूत्र २५/७

*** सूत्रार्थ** - प्रिय/रमणीय विषयों का वियोग होने पर उनकी प्राप्ति के लिए पुनः पुनः चिन्तन करना तीसरा आर्तध्यान कहलाता है।

* विवेचनामृतम् *

चित्ताकर्षक, रमणीय अभीष्ट विषयों का संयोग होने के पश्चात् वियोग भी होता है। वस्तुतः संयोग का अन्तिम चरण वियोग ही होता है।

अभीष्ट वस्तु का वियोग होने के पश्चात् उसे पुनः प्राप्त करने के लिए चित्त की विकलता ही तीसरा आर्तध्यान है। इसे इष्ट वियोग आर्तध्यान भी कहते है।

卐 मूल सूत्रम् -

निदानं च ॥३४॥

卐 सुबोधिका टीका 卐

निदानमिति। काम भोगासक्तानां विषयसुखतृष्णावतां गृद्धानां निदानमार्त ध्यानम्। ये + जीवात्मानः काम + भौगैर + तृप्ताः ते व्रतचारित्रफलस्वरूपेण सांसारिक विषयान् अभिलषन्ति यद्वा तदर्थमेव संयमधारिणो भवन्ति। एवं प्रकारकानां जीवानामियं भावना भवति यत् व्रतचारित्रप्रभावेन परलोके तत् तत् फलानां प्राप्तिः स्यात्। एतत् प्रकारकः संकल्पः- निदानमार्तध्यानमिति।

*** सूत्रार्थ** - अप्राप्त वस्तु की प्राप्ति के लिए सतत कामना चिन्ता करना चौथा आर्तध्यान कहलाता है।

* विवेचनामृतम् *

अप्राप्त वस्तु, विषय-वासना आदि के प्रति जिनकी लालसा अभी तक समाप्त नहीं हुई है ये जीवात्मा व्रत चारित्र के फलस्वरूप भी भोग-कामना करते रहते हैं- उनका यह सतत कामैषणा सहित चिन्तन निदान नामक चतुर्थ **आर्तध्यान** कहलाता है।

卐 मूल सूत्रम् -

तदविरतदेश + विरत + प्रमत्त + संयतानाम् ॥३५॥

तदिति। तद्-आर्तध्यानम्-अविरत-देशविरत-प्रमत्त संयत-गुणस्थानेषु एव सम्भाव्यते। एतत् आर्तध्यानं चतुर्थ-पंचम-षष्ठ-गुणस्थानवर्त्तिजीनामेवात्र उल्लेखः।

पूर्वसूत्रेषु आर्तध्यानभेदानामधिकारिणां च वर्णनमस्ति। दुःखोत्पत्तेः प्रमुखकारणचतुष्टयानि सन्ति- १. अनिष्ट वस्तुसंयोगः २. इष्टवस्तु वियोगः ३. प्रतिकूलवेदना ४. भोगलिप्सा चेति।

एतेषा माधारेष्वेवार्तध्यानस्यप्रकारचतुष्टयं कथितम्- १. अनिष्टसंयोगार्तध्यानम् २. इष्टवियोगार्तध्यानम् ३. शारीरिक-मानसिक-रोगचिन्तार्तध्यानम् ४. तीव्रसंकल्पनिदानार्तध्यानम् च।

*** सूत्रार्थ** - वह (आर्तध्यान) अविरत, देशविरत और प्रमत्तसंयत- इन गुणस्थानों में ही सम्भाव्य है।

* विवेचनामृतम् *

चारों आर्तध्यानों के अधिकारियों को बताने के लिए इस सूत्र की रचना की गई है। इस सूत्र में चौथे, पांचवे तथा छठे गुणस्थान वर्ती जीवों का उल्लेख है।

आर्तध्यान - अविरत, देशविरत और अप्रमत्तसंयत - इन गुणस्थानों में ही सम्भव है।

* रोद्रध्यानम् *

卐 मूल सूत्रम् -

हिंसाऽनृतस्तेय विषयसंरक्षणेभ्यो रौद्रभविरतदेशविरतयोः ॥३७॥

卐 सुबोधिका टीका 卐

हिंसेति। हिंसा-असत्य-चौर्य-विषयसंरक्षणार्थं सततं या चिन्ता प्रवर्तते-तदेव रौद्रध्यानमुच्यते, यच्चाविरतदेशविरतयोरेव सम्भवति।

पंचम गुणस्थानादुपरितनानां जीवानां कृते रौद्रध्यानं न भवति। यस्य चित्ते क्रूरता कठोरता भवति स रुद्रः कथ्यते। रुद्रस्य ध्यानं रौद्रध्यानमुच्यते। हिंसया, मिथ्याभाषणेन, चौर्येण, विषय संरक्षणलिप्सया चिन्ता भवति सैव हिंसानुबन्धि-अमृतानुबन्धि रौद्रध्यानम् अस्ति।

*** सूत्रार्थ** - हिंसा, असत्य, चोरी और विषय संरक्षण के लिए सतत चिन्ता करना देशविरत में संभव है।

* विवेचनामृतम् *

हिंसाकर्म के लिए, मिथ्या भाषण के लिए चौर्यकर्म के लिए एवं विषय संरक्षण पांचो इन्द्रियों के विषय संरक्षण या पुष्टि के लिए जो बारम्बार चित्त लगाया जाता है, उसे रौद्रध्यान कहते है। यह ध्यान अविरत और देशविरत को ही हुआ करता है।

पांचवें गुणस्थान के ऊमर के जीवों को रौद्रध्यान नहीं हुआ करता। यहाँ रौद्रध्यान के भेद तथा उसके अधिकारियों का वर्णन है। रौद्रध्यान के चार भेद उसके कारणों के आधार पर आर्तध्यान की तरह ही बताए गए हैं। जिसका चित्त क्रूरता, कठोरता से युक्त होता है, उसे रुद्र कहते हैं। रुद्र (क्रूरता युक्त जीवात्मा) के ध्यान को रौद्रध्यान कहते हैं।

हिंसा करने, झूठ बोलने, चोरी करने तथा प्राप्त विषयों के संरक्षणवृत्ति से क्रूरता उत्पन्न होती है। इसके कारण जो चिन्ता होती है उसे हिंसानुबन्धी स्तेयानुबन्धी तथा विषयानुबन्धी रौद्रध्यान कहते हैं। इस ध्यान के अधिकारी (स्वामी) पांचवें गुणस्थान वाले होते हैं।

※ अथ धर्मध्यानम् ※

卐 मूल सूत्रम् -

आज्ञाऽपाय-विपाक संस्थान-विचयाय
धर्ममप्रमत्त संयतस्य ॥३७॥
उपशान्त क्षीणकषाययोश्च ॥३८॥

卐 सुबोधिका टीका 卐

आज्ञेति। आज्ञापायविपाक संस्थानानां विचारणायै एकाग्रमनोवृत्तिता-धर्मध्यानम्, तत् तु अप्रमत्त संयते संभवति। एतद् धर्मध्यानम् उपशान्तमोहे, क्षीणमोहे गुणस्थानेऽपि सम्भवम्।

※ सूत्रार्थ - आज्ञा अपाय, विपाक और संस्थान की विचारणा के लिए चित्तवृत्ति को एकाग्र करना- धर्मध्यान कहलाता है। वह धर्मध्यान, अप्रमत्त संयत में संभव है॥३७॥

वह धर्म-ध्यान उपशान्त मोह तथा क्षीण मोह गुणस्थानों में भी सम्भव हैं।

※ विवेचनामृतम् ※

आत्मा को पवित्र करने वाला तत्त्व धर्म कहलाता है। जिस आचरण से आत्मा की विशुद्धि होती है, उसे धर्म कहते हैं। पवित्र विचारों में मन को एकाग्र करना धर्मध्यान कहलाता है। आगमों में धर्म ध्यान के चार प्रकार प्ररूपित है -

धम्मे झाणे चउव्विहे-पण्णते तं जहा-
आणा विजए, अवाय विजए, विवाग विजए संठाण विजए।

१. **आज्ञाविचय** - 'विचय' का अर्थ है - निर्णय करना या विचार करना। आज्ञा के सम्बन्ध में चिन्तन करना **'आज्ञा विचय'** कहलाता है। वीतराग स्वामी की आज्ञा ही माननीय एवम् आचरणीय है। अर्थात् आज्ञा का अर्थ है- वीतराग परमात्मा धर्म अटल सत्य है-

''तमेव सच्चं नीसकं जं जिणेहिं पवेइयं''

धर्मध्यान का प्रथम भेद है-आज्ञाविचय।

२. **अपायविचय** - अपाय का अर्थ है- दुगुर्ण/दोष/आत्मा के साथा मिथ्यात्व, अव्रत, प्रमाद, कषाय एवम् अशुभ योग- इन दोषों के कारण ही आत्मा जन्म-मरण के चक्र में भटकता है, दु:ख वेदना प्राप्त करता है।

दोषों को शुद्धि के लिए किया जाने वाला चिन्तन करना **'अपाय विचय'** है। यह धर्मध्यान का दूसरा स्वरूप है।

३. **विपाक विचय** - मिथ्यात्व आदि पंच दोष कर्मबन्ध के कारण है क्योंकि वे प्रमाद स्वरूप है। प्रमाद स्वयं भी कर्मरूप है। कहा भी है-

'पमायं कम्म माहंसु'[१]

पाप के कटु परिणामों एवं पुण्य के शुभ फलों का चिन्तन धर्मध्यान का विपाक विचय नामक तीसरा धर्मध्यान है।

४. **संस्थान विचय** - संस्थान का अर्थ है- आकार। विश्वसम्बन्धी विषयों के साथ आत्म-सम्बन्ध जोड़कर उनका आत्माभिमुखी चिन्तन करना 'संस्थान विचय' कहलाता है।

धर्मध्यानी की पहचान चार लक्षणों पर आधारित है -
१. आज्ञारुचि २. निसर्ग रुचि ३. सूत्र रुचि ४. अवगाढरुचि

धर्मध्यान के चार अवलम्बन है -
१. वाचना २. पृच्छना ३. परिर्वतना ४. धर्मकथा

धर्मध्यान की चार भावनाएं भी है-

१. **एकत्वानुप्रेक्षा** - आत्मा एकाकी है, कोई किसी का नहीं है। एकत्व में आनन्द है, द्विविधा में दु:ख है- यह चिन्तन एकत्वानुप्रेक्षा का प्रमुख स्त्रोत है।

२. **अनित्यानुप्रेक्षा** - शरीर, धन आदि सब नश्वर है। कोई वस्तु स्थिन नहीं है, सब क्षणिक हैं -इत्यादि चिन्तन **'अनित्यानुप्रेक्षा'** कहलाता है।

३. **अशरणानुप्रेक्षा** - संसार में कोई शरण नहीं है। यहाँ कोई संसारी किसी का रक्षक नहीं होता है- एतत् प्रकारक चिन्तन **अशरणानु प्रेक्षा** कहलाता है।

जिसके सकल कषाय उपशान्त हो चुके हैं, ऐसे ग्यारवें गुणस्थानवर्ती, जीव के और जिसके सम्पूर्ण कषाय सर्वथा नि:शेष-क्षीण हो गऐ है, ऐसे क्षीण कषाय नामक बारहवें गुणस्थान वाले जीव के भी धर्मध्यान होता है ॥३८॥

---

१. सूत्रकृताग १/८/३

※ अथ शुक्लध्यानम् ※

卐 मूल सूत्रम् -

शुक्ले चाद्ये ॥३९॥

卐 सुबोधिका टीका 卐

शुक्ल इति। उपशान्त मोह- क्षीणमोहयो: आद्ये-द्वे ध्याने शुक्लध्याने भवत:। एते ध्याने शुक्लध्याने पूर्वधरस्य भवत:।

उपशान्तकषाय-क्षीणकषायनामैकादश-द्वादश गुणवर्ति जीवानाम् आद्ये शुक्लध्याने पृथकत्व-वितर्कैकत्व वितर्कपूर्वविदो भवत:। अत्र पूर्वविद: इत्यस्य तात्पर्यमस्ति- श्रुतकेवलिन इति। अर्थात् शुक्लध्यानस्याधिप: श्रुतकेवलीति।

※ सूत्रार्थ - अपशान्तमोह और क्षीणमोह में पहले के दो शुक्लध्यान सम्भव है। ये दो शुक्लध्यान पूर्वधर को होते हैं।

※ विवेचनामृतम् ※

अशान्त कषाय और क्षीण कषाय गुणस्थान में धर्मध्यान भी होता है तथा आदि के शुक्लध्यान भी होते हैं। यहाँ पूर्वविद का अर्थ है श्रुतकेवली। श्रुतकेवली के आदि के दो शुक्लध्यान भी होते हैं। शुक्ल ध्यान के स्वामी श्रुतकेवली ही होते हैं।

卐 मूल सूत्रम् -

परे केवलिन: ॥४०॥

卐 सुबोधिका टीका 卐

पर इति। सूक्ष्मक्रिया प्रतिपाति-व्युपरतक्रिया निवृत्ति एतद्-ध्यानद्वयं केवलिन: भवत:।

परे=अन्तिम द्वे ध्याने केवलिन एव भवत:, न तु छद्मस्थस्य। केवलिन: त्रयोदश चतुर्दश गुणस्थावतो भवन्ति। सूक्ष्मक्रियाप्रतिपाति: त्रयोदशे गुणस्थाने तथा व्युपरतक्रियानिवृत्ति नामकं शुक्लध्यानं चतुर्दशे गुणस्थाने भवत:।

※ सूत्रार्थ - अन्त के सूक्ष्म क्रिया प्रतिपाति एवम् व्युपरत क्रिया निवृत्ति नामक दो ध्यान केवली भगवान् के ही होते हैं।

※ विवेचनामृतम् ※

ध्यानावस्था में अनेक उपसर्ग होते हैं परन्तु उत्कृष्ट ध्यानियों का ध्यान, उनसे भंग नहीं

होता है। वह स्थिति शुक्लध्यान की स्थिति है। गजसुकुमाल मुनि के मस्तक पर अंगार भर देने पर भी वे मरणान्तक पीड़ा से अकम्पित, अचंचल रहते हुए शुक्लध्यान में लीन रहे। चित्त की ऐसी निर्मलता व स्थिरता- शुक्लध्यान कहलाती है।

शुक्लध्यान के दो भेद किए गए है-

शुक्लध्यान एवं परशुक्लध्यान। चतुर्दश पूर्वधर तक का ध्यान शुक्लध्यान कहलाता है। तथा केवली भगवान् का ध्यान परमशुक्लध्यान कहलाता है।

जैनागमों में कहा है कि **'सूक्ष्मक्रिया प्रतिपाति'** ध्यान **केवली वीतराग आत्मा** को ही होता है। जब आयुष्य का बहुत कम समय (अन्तर्मुहूर्त) शेष रह जाता है उस समय **वीतराग आत्मा** में योगनिरोध की प्रक्रिया प्रारम्भ हो जाती है।

आत्मा, चौदहवें गुणस्थान की श्रेणी में आरुढ़ होकर अयोगी केवली बन जाता है। यह परम निष्कम्प, समस्त क्रिया योग से मुक्त ध्यान स्थिति है। इस स्थिति में पुन: उस ध्यान से निवृत्ति नहीं होती है। अतएव इसे **समुच्छिन्न क्रियाऽनिवृत्ति** या **व्युपरत क्रिया निवृत्ति** कहते हैं।

卐 मूल सूत्रम् -

पृथक्त्वैकत्व वितर्क सूक्ष्म क्रिया प्रतिपाति व्युपरत क्रिया निवृत्तीनि॥४१॥

卐 सुबोधिका टीका 卐

पृथक्त्वेति। चत्वारि शुक्लध्या नानि भवन्ति तानि च पृथक्त्वैकत्ववितर्कसूक्ष्मक्रिया प्रतिपाति क्रियानिवृत्तिरूपाणीति। शुक्लध्यानस्यापि चत्वारो भेदा: सन्ति १. पृथकत्ववितर्कसविचार: २. एकत्ववितर्क निर्विचार: ३. सूक्ष्मक्रियाप्रतिपाती ४. व्युपरतक्रिया निवृत्ति:।

*** सूत्रार्थ** - पृथक्त्ववितर्क, एकत्ववितर्क, सूक्ष्मक्रियाप्रतिपाती और व्युपरतक्रियानिवृत्ति- ये चार शुक्लध्यान है।

* विवेचनामृतम् *

शुक्लध्यान के चारों प्रकारों पर विवेचन इस प्रकार किया जा सकता है -

१. **पृथक्त्व वितर्क सविचार** - पृथक्त्व का अर्थ है- भेद। वितर्क का अर्थ है- तर्कप्रधानचिन्तन। इस ध्यान में श्रुतज्ञान का सहारा लेकर वस्तु के विविध भेदों पर सूक्ष्मातिसूक्ष्म चिन्तन किया जाता है।

जब ध्यान करने वाला पूर्वधर होता है तब वह पूर्वगत श्रुत के आधार पर और जब पूर्वधर न हो तब अपने सम्भावित श्रुत के आधार पर किसी भी परमाणु आदि जड़ में या आत्मारूप चेतन में एक द्रव्य में उत्पत्ति, स्थिति, नाश, मूर्तत्व, अमूर्तत्व आदि अनेक पर्यायों का द्रव्यास्तिक, पर्यायास्तिक आदि विविध नयों के द्वारा भेदप्रधान चिन्तन करता है और यथासम्भव श्रुतज्ञान के आधार पर किसी एक द्रव्यरूप अर्थ पर से दूसरे द्रव्यरूप अर्थ पर या एक द्रव्यरूप अर्थ पर से पर्यायरूप अन्य अर्थ पर अथवा एक पर्यायरूप अर्थ पर से अन्य पर्यायरूप अर्थ पर, इसी शब्द पर से अर्थ पर चिन्तन करने के लिए प्रवृत्त होता है तथा मन आदि किसी भी एक योग को छोड़कर अन्य योग का अवलम्बन लेता है तब वह ध्यान-**पृथकत्ववितर्कसविचार** कहलाता है।

२. **एकत्ववितर्क निर्विचार** - जब भेद प्रधान चिन्तन में मन स्थिरता प्राप्त कर लेता है, तब अभेदप्रधान चिन्तन में स्वत: ही स्थिरता प्राप्त कर लेता है। यहाँ वस्तुके एक रूप को ही ध्येय बनाया जाता है। यदि किसी एक पर्याय रूप अर्थ पर चिंतन चलता है तो उसी पर वह चिन्तन चलता रहता है। साधक, जिस योग में स्थिर है उसी योग पर अटल रहता है। इसमें विषय या योग का परिवर्तन नहीं होता है। जैसे-निर्वात-हवा रहित स्थान पर दीपक स्थिरता के साथ जलता है वैसे ही विचार + पवन से मन अकम्प रहता हुआ ध्यान की लौ लगाए रहता है। जैसे निर्वात गृह में भी दीपक को सूक्ष्म हवा मिलती रहती है, वैसे ही इस ध्यान में भी साधक सूक्ष्म विचारों पर चलता है, यह ध्यान सर्वथा निर्विचार ध्यान नहीं है किन्तु विचार स्थिर हो जाते है-किसी एक वस्तुतत्त्व पर।

एक ही वस्तु या विषय पर स्थिरता प्राप्त होने पर मन, शान्त होता है, उसकी चंचलता मिट जाती है, निष्कम्पता प्रतिष्ठित होती है। अन्ततगत्वा ज्ञान के सम्पूर्ण आवरणों का विलय हो जाने पर सर्वज्ञता प्रकट होती है।

३. **सूक्ष्म क्रियाप्रतिपाति** - यह ध्यान, अत्यन्त सूक्ष्म ध्यान है। इस ध्यान की स्थिति को प्राप्त करने के पश्चात् ध्याता, अपने ध्यान से कदापि पतित नहीं होता है। यह ध्यान केवली वीतराग को होता है। इस ध्यान की स्थिति से पहले स्थूलकाय योग के सहारे स्थूलमन योग को सूक्ष्म बनाया जाता है फिर सूक्ष्म मन के सहारे स्थूलकाय योग को सूक्ष्म बनाया जाता है। तदुपरान्त काययोग के अवलंबन से सूक्ष्म मन-वचन का निरोध करते हैं। उस स्थिति में मात्र सूक्ष्मकाय योग-श्वासोच्छ्वास की सूक्ष्म प्रक्रिया ही अवशिष्ट रहती है- ऐसी स्थिति का ध्यान है-**सूक्ष्मक्रियाप्रतिपाति।**

४. **व्युपरतक्रियानिवृत्ति** - इस ध्यान में श्वासोच्छ्वास स्थिति समाप्त हो जाती है। आत्मा सर्वथा यागों का निरोध कर देती है। आत्मप्रदेश सर्वथा निष्कम्प हो जाता है।

इस चतुर्थ ध्यान के प्रभाव से सकल आस्रव और बन्ध के निरोधपूर्वक शेष बचे कर्मों के क्षीण होजाने के कारक मोक्ष प्राप्त होता है।

卐 मूल सूत्रम् -

तत्र्येककाययोगायोगानाम्॥४२॥

卐 सुबोधिका टीका 卐

मनोयोगः वचनयोगः काययोगश्चेति योगस्यैते त्रयो भेदाः वर्णिताः सन्ति। येषु चैते त्रयोयोगाः प्राप्यन्ते तेषु आद्यः शुक्लध्यान पृथक्त्ववितर्कः। एतच्चतुर्विधं शुक्लध्यानं त्रियोगस्यान्यतम योगस्य काय योस्यायोगस्य च यथासंख्यं भवति।

तत्र योगत्रयाणां पृथकत्व-वितर्क + मैनाकान्यतममयो + गानामेकत्ववितर्कं काययोगानां क्रियाप्रतिपात्य + योगानां व्युपरत क्रियमनिवृतीति दिक्।

*** सूत्रार्थ** - वह (शुक्लध्यान) अनुक्रम से तीन योगवाले, किसी एक योग वाले, काय योग वाले तथा योगरहित को होता है।

* विवेचनामृतम् *

गुणस्थान की दृष्टि से शुक्लध्यान के चार भेदों में से पहले दो भेदों के स्वामी ग्यारहवें तथा बारहवें गुणस्थान वाले ही होते है, जो कि पूर्वधर भी हों। पूर्वधर विशेषण से सामान्यतः यह अभिप्राय है कि जो पूर्वधर न हो परग्यारह आदि अङ्गों का धारक हो, उसके ग्यारहवें, बारहवें गुणस्थान में शुक्लध्यान न होकर धर्मध्यान ही होगा। इस सामान्य विधान का एक अपवाद यह है कि जो पूर्वधर न हों उन माषतुष, मरुदेवी आदि आत्माओं में भी शुक्लध्यान सम्भव है। शुक्लध्यान के शेष दो भेदों के स्वामी केवली अर्थात् तेरहवें तथा चौदहवें गुणस्थान वाले ही हैं।

योग दृष्टि से तीन योग वाला ही चार में से पहले शुक्लध्यान का स्वामी होता है। मन, वचन तथा काया में से किसी एक योगवाला शुक्लध्यान के दूसरे भेद का स्वामी होता है। इस ध्यान के तीसरे भेद का स्वामी केवल काय योग वाला तथा चौथे भेद का स्वामी केवल अयोगी होता है।

卐 मूल सूत्रम् -

एकाश्रये सवितर्के पूर्वे॥४३॥

卐 सुबोधिका टीका 卐

एकाश्रय इति। पृथकत्ववितर्कस्य, एकत्ववितर्कस्य च आश्रय एवमेव द्रव्यम् अस्ति। एते पूर्वविदः श्रुतकेवलिन एव भवन्तीति। प्रथम-द्वितीयध्यानं तावत् सवितर्को भवति। पृथक्त्व वितर्कनामकं शुक्लध्यानं सविचारं भवति।

*** सूत्रार्थ** - पहले के दो ध्यान 'एकाश्रित' एवं सवितर्क होत हैं। इसमें से पहला ध्यान सविचार होता है।

* विवेचनामृतम् *

प्रारम्भ के दो शुक्लध्यान-पृथक्त्ववितर्क, एकत्ववितर्क का आश्रय एक ही द्रव्य है- ये पूर्वधर-श्रुतकेवली होते है। इनमें प्रथम एवं द्वितीय ध्यान सवितर्क होता है।

यहाँ पृथक्त्ववितर्क नामक शुक्लध्यान सविचार होता है- यह ध्यान रखना चाहिए।

卐 मूल सूत्रम् -

अविचारं द्वितीयम्॥४४॥

卐 सुबोधिका टीका 卐

अविचारमिति। द्वितीयं शुक्लध्यानं विचाररहितं भवति। द्वितीयञ्च शुक्लध्यानम्- एकत्ववितर्कः। अविचारं सवितर्कं द्वितीयं ध्यानम्।

*** सूत्रार्थ** - द्वितीय शुक्लध्यान (एकत्ववितर्क) विचाररहित होता है।

* विवेचनामृतम् *

दूसरा एकत्ववितर्क नामक शुक्लध्यान विचार रहित होता है किन्तु वितर्क सहित होता है। श्रुतज्ञान को ही वितर्क कहते हैं।

अर्थव्यञ्जन तथा योग की संक्रान्ति को विचार कहते हैं।

卐 मूल सूत्रम् -

वितर्कः श्रुतम् ॥४५॥

卐 सुबोधिका टीका 卐

वितर्क इति। श्रुतज्ञानमेव वितर्कः कथ्यते। श्रुतज्ञानं द्विधा- अङ्गबाह्यञ्चेति। इति तत्त्वार्थाधिगमस्य प्रथमेऽध्याये विशेषरूपेण प्रतिपादितमेव- 'श्रुतमनिन्द्रियस्येति सूत्रे'॥

सूत्रार्थ - श्रुतज्ञान को ही वितर्क कहते हैं।

* विवेचनामृतम् *

वितर्क का तात्पर्य-श्रुतज्ञान से है। अतएव सूत्रकार ने स्पष्ट शब्दों में कहा है कि श्रुतज्ञान को ही वितर्क कहते हैं।

श्रुतज्ञान के सन्दर्भ में तत्त्वार्थाधिगम सूत्र के प्रथम अध्याय में **'श्रुतमनिन्द्रियस्य'** इस सूत्र की व्याख्या एवं विवेचनामृत में स्पष्ट किया जा चुका है। अतः वहीं से इसका विशद अनुसंधान करना चाहिए।

卐 मूल सूत्रम् -

विचारोऽर्थव्यञ्जनयोग संक्रान्तिः ॥४६॥

卐 सुबोधिका टीका 卐

विचार इति। अर्थ-व्यञ्जन-योगानां संक्रान्तिः विचारः कथ्यते। सूत्रेऽस्मिन् त्रयो विषयाः सन्ति-अर्थ-व्यञ्जन-योगाश्चेति। ध्यानविषया भूतोऽर्थः। स च द्रव्य-पर्याय-भेदेन द्विधा भवति। यतो हि द्रव्य-पर्याययोः समूह एवार्थः पदार्थः कथ्यते। श्रुतवचनं व्यञ्जनम्। कायवाङ्मनः कर्मयोगः एवात्र योगः कथितः।

*** सूत्रार्थ** - अर्थ, व्यञ्जन एवं योग की संक्रान्ति को विचार कहते हैं।

* विवेचनामृतम् *

विचार का तात्पर्य है- अर्थ, व्यन्जन एवं योग की संक्रान्ति। प्रस्तुत सूत्र में तीन विषय हैं- अर्थ, व्यञ्जन और योग। ध्यान के विषय स्वरूप ध्येय को **अर्थ** कहते हैं।

श्रुतवचन का नाम ही व्यञ्जन है। श्रुतवचन से अर्थविशेष का अभिव्यञ्जन होता है।

मन, वचन, काया के द्वारा जो आत्मप्रदेशों में स्पन्दन क्रिया होती है- उसे 'योग' कहते हैं।

卐 मूल सूत्रम् -

स्मयग्दृष्टि श्रावकविरतानन्तवियोजक-दर्शन-मोह क्षपकोपशम-कोप-शान्त-मोह क्षपक क्षीण मोहजिनाः क्रमशोऽसंख्येयगुणनिर्जराः ॥४७॥

卐 सुबोधिका टीका 卐

सम्यगिति। संचित कर्म निर्जरा कारकाणि दश स्थानानि सन्ति। तद्यथा-सम्यग्दृष्टिः श्रावकः विरतः अनन्तानुबन्धि वियोजकः, दर्शनमोहक्षपकः, मोहोपशमकः, उपशान्तमोहः, मोहक्षपकः, क्षीणमोहः जिनश्चेति। एते दश असंख्येयगुणनिर्जरा भवन्ति।

*** सूत्रार्थ** - सम्यग् दृष्टि, श्रावक, विरत, अनन्तानुबन्धि वियोजक, दर्शन मोहक्षपक, उपशमक उपशान्तमोह, क्षपक, क्षीणमोह तथा जिन ये दश, क्रमशः असंख्येय गुण निर्जरा वाले होते हैं।

❊ विवेचनामृतम् ❊

कर्मबन्धानों का सर्वथा क्षय मोक्ष कहलाता है तथा आंशिक क्षय निर्जरा। निर्जरा, मोक्ष का पूर्वगामी अंग है। यद्यपि समस्त संसारी आत्माओं में कर्मनिर्जरा का क्रम जारी रहता है तथापि यहाँ विशिष्ट आत्माओं की कर्म निर्जरा के क्रम का विशद वर्णन किया गया है।

- ❖ जिस अवस्था में मिथ्यात्व दूर होकर सम्यक्त्व का आविर्भाव होता है उसे, सम्यग्दृष्टि कहते है।
- ❖ जिसमें अप्रत्याख्यानावरण कषाय के क्षयोपशम से अल्पांश में विरति (त्याग) उद्भूत होती है, उसे श्रावक कहते हैं।
- ❖ जिसमें प्रत्याख्यानानावरण कषाय के क्षयोपशम से सर्वांश में विरति प्रकट होती है, उसे विरत कहते हैं।
- ❖ जिसमें अनन्तानुबन्धी कषाय का क्षय करने योग्य विशुद्धि प्रकट होती है, उसे अनन्त वियोजक कहते हैं।
- ❖ जिसमें दर्शनमोह का क्षय करने योग्य विशुद्धि प्रकट होती है, उसे दर्शनमोहक्षपक कहते हैं।
- ❖ जिस अवस्था में मोह की शेष प्रकृतियों का उपशम जारी रहता है, उसे उपशमक कहते हैं।
- ❖ जिसमें उपशम पूरा हो चुका हो, उसे उपशान्त कहते हैं।
- ❖ जिसमें मोह की शेष प्रकृतियों का क्षय जारी हो उसे क्षपक कहते हैं।
- ❖ जिसमें मोह का क्षय पूर्ण सिद्ध गया हो, उसे क्षीण मोह कहते हैं।
- ❖ जिसमें सर्वज्ञता प्रकट हो गई हो, उसे जिन कहते हैं।

卐 मूल सूत्रम् -

पुलाक बकुश कुशील निर्ग्रन्थस्नातकाः निर्ग्रन्थाः ॥४८॥

卐 सुबोधिका टीका 卐

पुलकेति। निर्ग्रन्थानां पञ्चप्रकारा भवन्ति तद्यथा-पुलाको बकुशः कुशीलो निर्ग्रन्थः, स्नाकश्चेति। एतेषु प्रत्येकस्य स्वरूपमित्थम्- ये जिनोपदिष्टा + गमेभ्यः विचलिता नैव भवन्ति ते पुलाक निर्ग्रन्थाः कथ्यन्ते।

ये निर्ग्रन्थतां प्रति समुत्सुकाः सन्ति, तत्परिपालनमपि कुर्वन्ति किन्तु शरीरमपि भूषयन्ति। ये च छेदचारित्र शबलिताः सन्ति ते बकुश निर्ग्रन्थाः कथ्यन्ते।

कुशीला: द्विधा भवन्ति प्रतिसेवना कुशीला:, कषाय कुशीलाश्च। ईर्यापथप्राप्ता: वीतराकच्छद्मस्था निर्ग्रन्था:।

येषु सर्वज्ञता प्रकटिता ते स्नातका: कथ्यन्ते।

*** सूत्रार्थ** – पुलाक, बकुश, कुशील, निर्ग्रन्थ और स्नातक- ये निर्ग्रन्थ के पाँच प्रकार है।

* विवेचनामृतम् *

निर्गन्थ शब्द का निश्चयनय के द्वारा प्रस्तुत अर्थ भिन्न है तथा व्यवहारनय की अपेक्षा से भिन्न। द्विविध अर्थो के एकीकरण को ही यहाँ निर्गन्थ सामान्य मानकर, उसके पाँच भेदप्रदर्शित किए गए हैं-

१. **पुलाक** – मूलगुण तथा उत्तर गुण में परिपूर्णता प्राप्त न करते हुए भी वीतराग के द्वारा प्रस्तुति आगम से कभी विचलित नहीं होने वाला निर्ग्रन्थ पुलाक कहलाता है।

२. **बकुश** – शरीर और उपकरण के संस्कारों का अनुशरण करने वाला, सिद्धि तथा कीर्ति का अभिलाषी, सुखशील, अविविक्त, परिवारवाला तथा छेद(चारित्र) पर्याय की हानि तथा शबल अतिचार दोषों से युक्त निर्ग्रन्थ को बकुश कहते हैं।

३. **कुशील** – कुशील के दो प्रकार हैं- १. इन्द्रियों के अधीन होने के कारण उत्तर गुणों की विराधनामूलक प्रवृत्ति करने वाला **प्रतिसेवनाकुशील** कहलाता है।

२. तीव्रकषाय के वश न होकर कदाचित् मन्दकषाय के वशीभूत हो जाने वाला **कषाय-कुशील** कहलाता है।

४. **निर्ग्रन्थ** – सर्वज्ञता न होने पर भी जिसमें राग-द्वेष का अत्यन्त अभाव-सा होता है तथा अन्तर्मुहूर्त के बाद ही जिसकी सर्वज्ञता प्रकट होने वाली है, उसे **निग्रन्थ** कहते हैं।

५. **स्नातक** – जिसमें सर्वज्ञता, प्रोद्भासित हो, उसे **स्नातक** कहते हैं।

* निर्ग्रन्थानां विशेषता: *

卐 मूल सूत्रम् –

संयमश्रुतप्रतिसेवनातीर्थलिङ्गलेश्योपपातस्थानविकल्पत: साध्या: ॥४९॥

卐 सुबोधिका टीका 卐

संयमेति। पूर्वं येषां पञ्चप्रकारकाणां निग्रन्थानां वर्णनं कृतं तेषां विशेषस्वरूपबोधनायात्र विचार: कृत:। एते पुलाकदाय: पञ्चनिर्ग्रन्था: एतै: संयमादिभिरनुयोगविकल्पै: साध्या: भवन्ति।

सूत्रार्थ - संयम, श्रुत, प्रतिसेवना, तीर्थ, लिङ्गलेश्या, उपपात तथा स्थान के भेद से इन निर्ग्रन्थों की विशेषताएं है।

❊ विवेचनामृतम् ❊

पूर्वोक्त पांच प्रकार के निर्ग्रन्थों के विशेष स्वरूप ज्ञान के लिए इस सूत्र में विचार किया गया है। यहाँ विशेष विचार यह है कि संयम आदि आठ विशेषताओं में से किस निर्ग्रन्थ का कितना सम्बन्ध है-

१. **संयम** - सामायिक आदि पाँच संयमों में से सामायिक तथा छेदोपस्थापनीय इन दो संयमों में पुलाक, बकुश तथा प्रतिसेवना कुशील- ये तीन निग्रन्थ होते हैं, कषाय कुशील उक्त दो एवं परिहार विशुद्धि व सूक्ष्म सम्पराय- इन चार संयमों में होता है। निर्ग्रन्थ और स्नातक एकमात्र यथाख्यात संयम वाले होते हैं।

२. **श्रुत** - पुलाक, बकुश और प्रतिसेवना कुशील- इन तीनों का उत्कृष्ट श्रुतपूर्ण, दशपूर्व और कषायकुशील एवं निग्रन्थ का उत्कृष्ट श्रुत चतुर्दश पूर्व होता है, जघन्य श्रुत पुलाक का आचार वस्तु होता है, बकुश, कुशील एवं निर्ग्रन्थ का अष्टप्रवचनमाता प्रमाण होता है। स्नातक सर्वज्ञ होने के कारण श्रुत से परे ही होता है।

३. **प्रतिसेवना** - पुलाक पाँच महाव्रत और रात्रि भोजन विरमण- इन छः में से किसी भी व्रत का दूसेर के जोर से खंडन करता है। कुछ आचार्यों के मत से पुलाक चतुर्थव्रत का विराधक है।

बकुश - दो प्रकार के होते हैं- उपकरण बकुश, शरीर बकुश। उपकरण में आसक्त बकुश अनेक बहुमूल्य उपकरण चाहता है,संग्रह करता है तथा नित्य संस्कार (सज्जा) करता है। शरीर में आसक्त बकुश शरीर शोभा में तत्पर रहता है।

प्रति सेवनाकुशील मूलगुणों की विराधना तो नहीं करता पर उत्तरगुणों की कुछ विराधना करता है। कषायकुशील निर्ग्रन्थ, तथा स्नातक के द्वारा विराधना नहीं होती है।

४. **तीर्थ** - तीर्थ का तात्पर्य है- शासन। पाँचों प्रकार के निर्ग्रन्थ तीर्थकरों के शासन-काल में होते हैं।

कुछ आचार्यों की मान्यता है कि पुलाक, बकुश और प्रतिसेवना कुशील ये तीनों तीर्थ में नित्य होतें हैं तथा शेष कषाय कुशील आदि तीर्थ में होते भी हैं तथा कभी नहीं भी।

५. **लिङ्ग** - द्रव्य और भाव के भेद से लिङ्ग (चिह्न) दो प्रकार के होते हैं -

१. चरित्रगुण भाव लिङ्ग कहलाता है।
२. विशिष्ट वेष-द्रव्यलिङ्ग कहलाता है।

६. **लेश्या** – पुलाक में तेज, पद्म और शुक्ल ये तीन लेश्याएं होती हैं। बकुश और प्रतिसेवना कुशील में छः लेश्याएं होती हैं।

कषायकुशील यदि परिहार विशुद्ध चारित्र वाला हो तो तेज आदि तीन लेश्याएं होती है और यदि सूक्ष्म सम्पराय चारित्र वाला हो तो एक शुक्ल लेश्या ही होती है। निर्ग्रन्थ और स्नातक में शुक्ल लेश्या ही होती है। अयोगी स्नातक अलेश्य ही होता है।

७. **उपपात** – पुलाक आदि चार निर्ग्रन्थों का जघन्य उपपात, सौधर्मकल्प में पल्योपम पृथकत्व स्थिति वाले देवों में होता है, पुलाक का उत्कृष्ट उपपात सहस्रार कल्प में बीस सागरोपम की स्थिति में होता है। बकुश और प्रतिसेवना कुशील का उत्कृष्ट उपपात आरण और अच्युतकल्प में बाईस सागरोपम की स्थिति में होता है। कषाय-कुशील और निर्ग्रन्थ का उत्कृष्ट उपपात सर्वार्थ सिद्ध विमान में तैंतीस सागरोपम की स्थिति में होता है। स्नातक का निर्वाण ही होता है।

८. **स्थान** – कषाय और योग का निग्रह ही संयम है। संयम सबका, सदैव समान नहीं होता है। कषाय और निग्रह के तारतम्य से ही संयम की तारतम्यता सुनिश्चित होती है।

संयम स्थानों में जघन्य स्थान पुलाक और कषाय कुशील के होते हैं।

॥ इति नवमोऽध्यायः ॥

卐 ॐ ह्रीं अर्हंते नमः 卐

卐 श्रीतत्त्वार्थाधिगमसूत्रम् 卐

तस्यायं

* नवमाध्याय का हिन्दी पद्यानुवाद *

* संवर तथा उसके साधन *

卐 सूत्राणि -

आश्रव निरोधः संवरः ॥१॥

स गुप्ति समिति धर्मानुप्रेक्षा परीषहजय चारित्रैः ॥२॥

तपसा निर्जरा च ॥३॥

सम्यग् योगनिग्रहो गुप्तिः ॥४॥

ईर्या भाषैषणादान निक्षेपोत्सर्गाः समितयः ॥५॥

* हिन्दी पद्यानुवाद -

आश्रव का जो रोध करे तो, संवर शुभ श्री प्राप्त करे।
संवर भाव उदय होते ही, भवोदधि को पार करे।
गुप्ति समिति धर्म के संग, अनुप्रेक्षा को समादरे।
परीषह चारित्रधारित प्राणी, संवर का वह वरण करे॥

तप ही साधन है संवर का, निर्जरा भी हो जाती है,
नवम अध्याय संवर के गुण, अभिव्यक्ति से गाती है।
सम्यग् विधि से योग निग्रह, गुप्ति परम है साधना,
मनसा, वचसा और काय से, त्रिधा करो आराधना॥

प्रथम इर्या, भाषा द्वितीय, एषणा तीसरी कही,
आदान और निक्षेप भाव, की कही चौथी यही।
उत्सर्ग नामी पंचमी है, संयम पालित करो सही,
पाँच समिति तीन गुप्ति, अष्टप्रवचनमाता कही॥

卐 सूत्राणि -

उत्तमक्षमा मार्दवार्जवशौच सत्य संयम तपस्यात्गाऽऽकिन्चन्य ब्रह्मचर्याणि धर्मः॥६॥

अनित्याशरण
संसारैक्त्वान्यत्वाशुचित्वास्त्रवसंवरनिर्जरालोकबोधिदुर्लभधर्मस्वाख्यात तत्त्वानुचिन्तनमनुप्रेक्षाः ॥७॥

※ हिन्दी पद्यानुवाद -

क्षमा, मार्दव और आर्जव, शौच संयम सत्य भी।
तप त्याग आकिंचन्य, शील औ यति धर्म सभी॥
अनित्य पहली भावना है, अशरण संसार की।
एकत्व चौथी और पंचम भावना अन्यत्व की॥
अशुचित्व की भावना है, आश्रव संवरत्व की,
निर्जरा लोकानुप्रेक्षा, बोधिदुर्लभ धर्म की।
ये भावना द्वादश कहीं है, तत्त्वचिन्तन मर्म ही,
भावना या तत्त्वचिन्तन, ये अनुप्रेक्षा कही॥

※ परिषह वर्णन ※

卐 सूत्राणि -

मार्गाच्यवन-निर्जरार्थ-परिषोढव्याः परिषहाः ॥८॥

क्षुत्पिपासा शीतोष्ण दशम शमशकनान्यारति स्त्रीचर्या निषद्या शय्याऽऽक्रोशवध याचनाऽलाभरोग-तृणस्पर्श-मलसत्कार-पुरस्कार-प्रज्ञाऽज्ञानादर्शनानि॥९॥

सूक्ष्म संपरायच्छद्मस्थवीतरायोश्चतुर्दश ॥१०॥

एकादश जिने ॥११॥

बादर-संपराये सर्वे॥१२॥

ज्ञानावरणे प्रज्ञाऽज्ञाने॥१३॥

दर्शन मोहान्तराययोर + दर्शनाला + भौ॥१४॥

चारित्रमोहेनान्यारति स्त्री निषद्याऽऽक्रोश याचना सत्कार-पुरस्काराः॥१५॥

वेदनीये शेषाः॥१६॥

एकादयो भाज्या युगपदेकोनविंशतेः॥१७॥

*** हिन्दी पद्यानुवाद ***

मार्ग से अच्यवन होना, निर्जरा हो कर्म से,
इस हेतु ही सहिष्णु हो, सह परीषहों को मर्म से।
क्षुधा, पिपासा शीत उष्ण, देशमशक परीषह,
नग्नता अरति स्त्रचर्या, मुनि सदा सहता वह॥

निषद्या, शय्या पुनः आक्रोश वध अरु याचना,
अलाभ, रोग स्पर्श तृणका, मलिनता अरु मानना।
प्रज्ञा तथा अज्ञान अदर्शन, है सभी संख्या कही।
ये योग में बाइस है, जो सहे मुनि है वही॥

संपराय सूक्ष्म दशवे, गुण के धारक हैं मुनि,
छद्मस्थधारी वीतरागी, सहते सभी ये हैं मुनि।
जिन विषय में ज्ञात ग्यारह, सभी नवगुण स्थान में,
प्रज्ञा तथा अज्ञान ये दो, प्रथम कर्म ज्ञान में ॥

दर्शन मोहनीय उदिते, शुद्ध दर्शन ना रहे,
अन्तराय प्रभाव से ही, लाभ कोई ना रहे।
चारित्र मोह हेतु से अरतिस्त्री निषद्या सभी,
आक्रोश याञ्चा मानना ये सात परीषह सभी॥

वेदनीय में शेष सारे परीषहों को जानिये,
एक साथ उन्नीस परिषह, उदित होते जानिये।
परिषहों का यह विवेचन, है विवेकगुण स्थान में।
फिर कर्म योग संपरिषहों की वर्णना है सूत्र में॥

❊ चारित्र तथा तप का विवेचन ❊

卐 सूत्राणि -

सामायिक-छेदोपस्थाप्य-परिहार विशुद्धि-सूक्ष्म संपराय यथाख्यातानि चारित्रम्॥१८॥

अनशनाव + मौदार्यवृत्ति- परिसंख्यान- रस परित्याग-विविक्त-शय्यासन कायक्लेशा बाह्यं तपः॥१९॥

प्रायश्चित्तविनय + वैयावृत्य- स्वाध्याय + व्युत्सर्ग + ध्यानान्युत्तरम्॥२०॥

❊ हिन्दी पद्यानुवाद -

प्रथम सामायिक दूसरा, उपस्थापन छेद से,
परिहार शुद्धि जानिये शुभ, चरण तीजा भेद से।
चारित्र चौथा नाम निर्मल, सूक्ष्म संपराय है,
सब तरह से शुद्ध पंचम, यथाख्यात विख्यात है।।

प्रथम अनशन श्रेष्ठ तप है, उनोदरी दूजा कहा,
है तीसरा वृत्तिसंक्षेप, रसत्याग चौथा फिर कहा।
विवक्तशय्या और आसन, पाँचवा तप है कहा,
है षष्ठ कायक्लेश ही षट् बाह्य तप है सर्वहा॥

प्रायश्चित्त प्रथम ख्यात, विनय तप दूजा कहा,
वैयावच्च तप तीसरा है, स्वाध्याय निर्मल है अहा।
कायोत्सर्ग पंचम तपचरण, ध्यान छठा है कहा,
ये षडाभ्यन्तर कहे तप, धारिये नित तप महा॥

❊ प्रायश्चित्त, विनय, वैयावृत्य, सज्झाय व उत्सर्ग वर्णन ❊

卐 सूत्राणि -

नवचतुर्दश + पंचद्विभेदं यथाक्रमं प्राग् ध्यानात्॥२१॥

आलोचन-प्रतिक्रमण + तदुभय + विवेक व्युत्सर्ग + तपच्छेद परिहारोप + स्थानानि॥२२॥

ज्ञान दर्शन चारित्रोपचाराः॥२३॥

आचार्योपध्यातपस्विशैक्षक + ग्लान + गण + कुल संघ साधु + समनोज्ञाम् ॥२४॥
वाचना-पृच्छनाऽनुप्रेक्षाम्नाय धर्मोपदेशाः॥२५॥
बाह्याभ्यन्तरोपध्योः॥२६॥

* हिन्दी पद्यानुवाद -

भेद नव है प्रायश्चित्त के, एवं विनय के चार हैं,
दशभेद वैयावच्च के हैं, स्वाध्याय के भी पाँच हैं।
व्युत्सर्ग तप के भेद दो हैं, तत्त्वार्थ से व्याख्यात है,
ध्यान के है भेद चारों, शुचि ध्यान मार्ग निर्माण हैं॥

आलोचना अरु प्रतिक्रमण फिर उभय विवेक है,
व्युत्सर्ग तप औ छेद अष्टम, परिहार अनेक हैं।
उपस्थापन इन नव भेद से, प्रायश्चित्त पहचानिये,
ज्ञान-दर्शन चरण औ उपचार से विनय को भी जानिये॥

दशभेद वैयावच्च के हैं, आचार्य और वाचक वरा,
तपस्वी फिर शिष्य चौथा, ग्लान गण कुल सुन्दरा।
संघ चार प्रकार साधु, दशम समशील मानिये,
इन दशों की पंच विध कर सुश्रुषा सुख मानिये॥

वाचना औ पृच्छना शुभ अनुप्रेक्षा भावना,
परावर्तन कर सूत्र का, धर्म की उपदेशना।
पंचविध स्वाध्याय को, समझो करो तुम सेवना,
बाह्य-अन्तर उपधि छोड़ो, व्युत्सर्ग शुभ कामना॥

* ध्यान स्वरूप *

卐 सूत्राणि -

उत्तम + संहनन + स्थैकाग्रचिन्ता + निरोधो + ध्यानम् ॥२७॥
आमुहूर्तात् ॥२८॥
आर्तरौद्र + धर्मशुक्लानि ॥२९॥
परे मोक्ष + हेतू ॥३०॥

※ हिन्दी पद्यानुवाद -

प्रथम के त्रय आशरीरी, जीव को विचारिये।
एकाग्रमन से मुनि सदृश, अन्य चिन्ता रोधिये।
काल के अन्तमुहूर्त प्रमाण ध्यान धरे तभी,
ध्यान उसको मानिये, सत्य साक्षात्कार भी॥

आर्त-रौद्र-धर्म-शुक्ल, ध्यान के ये भेद हैं,
प्रथम के जो ध्यान दो हैं, होता तभी भव भेद है।
दो ध्यान अन्तिम हैं, उन्हीं को मोक्ष का हे + तू कहा,
जो करे स्वीकार उनको, अवरोध विषयों का कहा॥

※ चारों ध्यानों का स्वरूप ※

卐 सूत्राणि -

आर्त्तममनोज्ञानां संप्रयोगे तद्विप्रयोगाय स्मृति + समन्वा + हारः॥३१॥
वेदनायाश्च॥३२॥
विपरीतं मनोज्ञानाम्॥३३॥
निदानञ्च ॥३४॥
तदविरत-देशविरत + प्रमत्त + संयतानाम्॥३५॥
हिंसानृतस्तेय विषय + संरक्षणेभ्यो रौद्रमविरतदेश + विरतयोः॥३६॥
आज्ञाऽपाय-विपाक संस्थान-विचयाय धर्म + प्रमत्त + संयतस्य ॥३७॥
उपशान्त क्षीण + कषाय + योश्च ॥३८॥
शुक्ले चाद्ये पूर्वविदः॥३९॥
परे केवलिनः॥ ४०॥

※ हिन्दी पद्यानुवाद -

यदि मिले अमनोज्ञ चिन्ता, आर्तप्रिय वियोग चिन्ता,
रोगचिन्तन से दुखी मन, प्राप्य की हो लभ्य चिन्ता।
मनोवांछित विषय मिलते, तीव्र उसमें वासना हो,
हैं सूत्र में ये चार भेद आर्तध्यान योग जो हों॥

अविरति अरु देशविरति, सर्वविरति है प्रथम में,
आर्तध्यान संभाव्य है, हीन हीनतर योग में।
हिंसा असत्य, स्तेय एवं विषय संरक्षण चतुर्थ,
ध्यान रौद्र के भेद चारों, तत्त्वार्थाधिगमें स्पष्ट अर्थ॥

अविरति औ विरति से ही रौद्र की संभावना,
प्रमत्त मुनि सर्वविरति, ध्यान, रौद्र न कामना।
आज्ञा, अपाय, विपाक फिर विषय संस्थान लिए,
धर्मध्यानी अप्रमत्त मुनि ये चारों स्वीकृत किए॥

उपशान्त मोही, क्षीण मोही, उक्तध्यान निरत सदा,
छेद करके कर्मपाश मुदित ध्यान में सदा।
प्रथम दूसरे शुक्ल भेद, पूर्वधर ध्याते सदा,
चरमशुक्ल भेद जो दो, केवली पाते सदा॥

卐 सूत्राणि -

पृथकत्व-वितर्क सूक्ष्म + क्रियापत्ति + व्युपरत + क्रियाऽनिवृत्तीनि ॥४१॥
तत्र्येककाय योगा योगानाम् ॥४२॥
एकाश्रये सवितर्के पूर्वे ॥४३॥
अविचारं द्वितीयम् ॥४४॥
वितर्कः श्रुतम् ॥४५॥
विचारोऽर्थव्यञ्जन योगसंग्रान्तिः ॥४६॥

* हिन्दी पद्यानुवाद -

प्रथम शुक्ल ध्यान उत्तम, नाम से वर्णन करुँ,
पृथकत्व वितर्क सविचार आद्य में इसको वरुं।
एकत्व वितर्क अविचार, द्वितीय भेद है शुक्ल का,
क्रमशः इन्हें ध्याते चलो तो हो परिचय आत्म का॥

फिर तीसरा है भेद सूक्ष्म, क्रिया प्रतिपाती शुभ,
और चौथा भेद व्युपरत, क्रिया निवृत्ति शुभ।
अनुक्रम से योग त्रिक ये, एक योग भी वर्तना,
काययोगी फिर अयोगी, अनुक्रम से साधना॥

वितर्क से है एक आश्रय, पूर्वधर दो गाहते,
वितर्क से है श्रुत ही जानो तच्वार्थ में विचारते।
अर्थव्यञ्जन योग के सह विचार की है धारणा,
आखिरी दो मात्र होते केवली को जानना॥

❊ निर्जरा एवं निग्रन्थवर्णन ❊

卐 सूत्राणि -

सम्यग् + दृष्टि + श्रावक + विरतानन्त + वियोजक + दर्शन-मोह-क्षप
कोपशम-शान्त मोह क्षपक क्षीण मोह जिनाः क्रमशोऽ
संख्येय + गुण + निर्जरा। ॥४७॥
पुलाकबकुश + कुशील + निर्ग्रन्थ + स्नातका निर्ग्रन्थाः॥४८॥
संयमश्रुत + प्रति + सेवना + तीर्थ + लिङ्ग + लेश्योपपात + स्थानविकल्पतः
साध्याः॥४९॥

❊ हिन्दी पद्यानुवाद -

समकितधारी श्रावक पुनः विरति को जोडिये,
अनन्तानुबन्धी वियोजक चौथा क्रमशः मानिये।
दर्शन-मोह-क्षपक उपशम, अनुक्रम से जोडिये,
उपशांत मोही क्षपक क्षीण पुनः जिनवर मानिये॥

इन स्थान में दशवें अनुक्रम, असंख्य गुणी है निर्जरा,
ध्यान करके उदय पाते, क्षमाधारी मुनिवरा।
पुलाक, बकुल कुशील, निर्ग्रन्थ स्नातक पञ्चमहाव्रत साधक्र,
निग्रन्थ का यह भेद पंचक, धारिये आराधना॥

संयम श्रुत परिसेवन तीर्थ लिंग पंचम गिनो,
लेश्या उपपात स्थान आठवा, यह भी गिनो।
निर्ग्रन्थ पंचक अडाहार सूत्र में व्याख्या सरल,
अध्याय नवमा पूर्ण होता, स्वाध्याय करते हैं विरल॥

तच्वार्थधिगम सूत्र की, पद्यानुवाद विवेचना,
है रची हरिगीतिका में तत्त्वार्थ की संबोधना।
अध्याय नवमा पूर्ण है, संवर निर्जर श्रुत भरा,
अध्यात्म पथ के पथिक विचरो, सुशील वचनामृत खरा॥

॥ इति श्री तत्त्वार्थाधिगम सूत्र के नवमाध्याय का पद्यानुवाद समाप्त ॥

卐 श्रीतत्त्वार्थाधिगमसूत्रम् नवमाध्याय सारांश 卐

संवर + वर्णनं चात्र नवमे संस्फुटी कृतम्।
संवर आस्त्रवरोधो द्वेचत्वारिशंद्विधस्य च॥१॥

गुप्त्यादिभिरभ्युपायैः सैष संवर आदृतः।
तपसा संवरः तपसा निर्जरा तथा॥२॥

तपो द्वादशधा चैव, प्रोक्तं गुप्ति विवेचनम्।
त्रिविधस्य हि योगस्य, गुप्ति सम्यग् सुनिग्रहः ॥३॥

कायवाक् चित्तगुप्त्या च, संवरं लभते व्रती।
इर्या भाषैषणादानं सम्यग् निक्षपेणं भवेत्॥४॥

पञ्च समितयः प्रोक्ताः तिस्त्रोगुप्तयस्यथा।
प्रवचन मातरो जैने शासने लब्धकीर्तयः ॥५॥

क्षमार्जवादिभेदेन, धर्मो दशविधः स्मृतः।
मनसा कर्मणा वाचा, स्वाचरन् शिवमाप्नुयात् ॥६॥

अनित्या + श्रयसंसारैकत्वान्यत्वाशुचिस्तथा।
संवरास्त्रव + निर्जरानुप्रेक्षा + लोक + चिन्तनम् ॥७॥

बोधि + दुर्लभ + धर्म + स्वाख्यात + त्वानु प्रेक्षणम्।
द्वादश भावनाश्चैताः सवंर सिद्धिदयकाः॥८॥

किमर्थं परिषोढव्या? परिषहाः व्रतजीवने।
मोक्षाद् च्यवनार्थाय, कर्मनिर्जर + हे तवे॥९॥

क्षुत्पिपासा च शीतोष्ण + दंशमशकं नाग्य हि।
स्त्रीचर्या निषदा शय्या, आक्रोश + वध + याचना ॥१०॥

अलाभ + रोगौ तृणस्पृशः मलसत्कारमेव च।
पुरस्कार + प्रज्ञा + ज्ञाना + न्यदर्शन द्विविंशतिः ॥११॥

एते परिषहाः प्रोक्ताः षोढव्या मोक्ष चारिणा।
पञ्चकर्म प्रकृतीनां वर्णनं चात्र कीर्तितम्॥१२॥

卐 ॐ ह्रीं अर्हते नमः 卐

卐 श्रीतत्त्वार्थाधिगमसूत्रम् 卐

दशमोध्यायः

❊ अथ दशमोऽध्यायः ❊

जीवादिक-सप्ततत्त्वेषु निर्जरापर्यन्तं षट्तत्त्वानां वर्णनं तु पूर्वं सन्जातम्। क्रम प्राप्त + मवसरप्राप्तं तावद् अन्तिम तत्त्वं मोक्ष वर्णनम्। तस्मान्मोक्षवर्णन + मेव कुर्यात् किन्तु मोक्षप्राप्तिस्तु केवलज्ञान + पूर्विका भवति तस्मात् केवल + ज्ञानं तत्कारणानि चोल्लिखन्ते-

卐 सूत्रम् -

मोहक्षयाज्ज्ञान + दर्शनावरणान्तरायक्षयाच्च केवलम्॥०-१॥

卐 सुबोधिका टीका 卐

निर्जरया कर्मणां क्षयो भवति किन्तु सर्वेषामाप्यष्ट कर्मणां क्षयो युगपेदव न भवति। प्रथमं तावद् चतुर्णां घातिकर्मणां क्षयो भवति तदनन्तरं चतुर्णामप्यघातिकर्मणां क्षयो भवति। अत्राघाति-कर्मणां क्षये सति आत्मनि कःगुणः समुदैतीति कथयति- मोहक्षयादिति। मोहक्षयात् ज्ञानदर्शनावरणान्तराय + कर्मक्षयाच्च केवल + ज्ञान + मुत्पद्यते। अर्थात् मोहनीयस्य क्षये संजाते सति ज्ञानदर्शनावरणान्तराय + क्षयः तदनन्तरं तावत् केवल + ज्ञानं भवति। सूत्रे मोहक्षयात् इति हे + तौ पञ्चमी, मोहक्षयादिति पृथक्करणं क्रमप्रसिद्ध्यर्थं ज्ञेयम्।

*** सूत्रार्थ** – मोहनीय कर्म के क्षय होने पर ज्ञानावरण, दर्शनावरण तथा अन्तराय कर्मों का क्षय होता है तदनन्तर केवल ज्ञान, केवल दर्शन प्रकट होते हैं।

अर्थात् पूर्वोक्त चार कर्म प्रकृतियों का क्षय केवल ज्ञान, केवल दर्शन के उद्भव/प्राकट्य का हेतु है॥१०-१॥

* विवेचनामृतम् *

निर्जरा से कर्मक्षय होता है किन्तु आठों कर्मों का क्षय एक साथ नहीं होता है। प्रथमत: चार घाती कर्मों का क्षय होता है तदन्तर चार अघाती कर्मों का क्षय होता है। यहाँ चार अघाती कर्मों का क्षय से आत्मा में कौन सा गुण प्रगट होता है? इस सन्दर्भ में प्रस्तुत सूत्र कहता है कि मोहनीय कर्म का क्षय होने से ज्ञान-दर्शनावरण के तथा अन्तराय कर्म के क्षय से केवल ज्ञान उत्पन्न होता है।

इन चार कर्मप्रकृतियों का क्षय केवल ज्ञान का हेतु है। सूत्र में मोह के क्षय से ऐसा पृथग् ग्रहण-क्रम दर्शनाने के अभिप्राय से निर्देशित है- ऐसा विधिवत् समझना चाहिए।

तात्पर्य यह है कि सर्वप्रथम मोहनीय कर्म क्षीण होता है तदन्तर अन्तर्मुहूत मात्र में ज्ञानावरण दर्शनावरण और अन्तराय- इन तीनों कर्मों का एक साथ क्षय होने पर पंचम केवल ज्ञान उत्पन्न होता है॥१०- १॥

मोहनीयादि कर्मणां क्षये को हेतु रिति कृत्वा प्रोच्यते-

卐 सूत्रम् -

बन्धहेत्वभावनिर्जराभ्यानम् ॥१०-२॥

卐 सुबोधिका टीका 卐

इत: पूर्वमष्टमाध्याये मिथ्यादर्शनाविरति प्रमाद-कषाय योगा: बन्धन हेतव: प्रतिपादिता: सन्ति। बन्धहेतूनामभावात् संवर: प्रतिपद्यते।

नवमाध्याये प्रोक्तं तावत्-आस्रवनिरोध: संवर:-१। सम्यक्त्वमावृणोति मिथ्यात्वम्। मिथ्यात्वस्य-दर्शनमोहनीयं + कर्मणोऽभावन्मिथ्या-दर्शनं सम्भवति संवर:। ततश्च निसर्गादधिगमाद्वा तत्त्वार्थश्रद्धानरूपं सम्यग्दर्शनं संजायते। एवमेव अविरत्यादि सन्दर्भेष्वपि ज्ञेयम्।

बन्धत्वहे + तोरभावात्-संवर निर्जराभ्यां मोहनीयादि- कर्मपाणां क्षयो भवति।

*** सूत्रार्थ** – बन्ध हेतु के अभाव से अर्थात् संवर से तथा निर्जरा से मोहनीय आदि कर्मों का क्षय होता है।

※ विवेचनामृतम् ※

अष्टम अध्याय के प्रारम्भ में ही प्ररूपित है कि बन्धन के पाँच कारण हैं- मिथ्यादर्शन, अविरति, प्रमाद, कषाय और योग। इन बन्ध हेतुओं का अभाव होने पर संवर होता है। नौवें अध्याय में कहा भी है- आस्रवनिरोधः संवर आश्रव के निरोध को संवर कहते हैं। वस्तुतः मिथ्यात्व सम्यक्त्व को आवृत्त कर लेता है। मिथ्यात्व तथा दर्शन मोहनीय कर्म के अभाव में मिथ्यादर्शनादि का संवर होता है।

तदन्तर निसर्ग अथवा तत्त्वार्थसन्धान से (अधिगम से) तत्त्वार्थश्रद्धा स्परूप सम्यग्दर्शन प्रगट होता है। इसी प्रकार अविरति आदि के विषय में भी समझना चाहिए।

मिथ्यादर्शन के कारण से होने वाले बन्ध के अभाव तथा बाँधे हुए कर्मों की निर्जरा से सम्यग्दर्शनादि की प्राप्ति होती है। केवल ज्ञान की उत्पत्ति होती है।

संवर और निर्जरा से प्रथम चार घाती कर्मों का क्षय होता है तथा तदनन्तर चार अघातिकर्म वेदनीय, आयुष्य, नाम,गोत्र का क्षय हो जाता है ॥१०-२॥

※ मोक्षतत्त्व निरूपणम् ※

卐 सूत्रम् -

कृत्स्नकर्मक्षयो मोक्षः ॥१०-३॥

卐 सुबोधिका टीका 卐

सम्पूर्णकर्मक्षयलक्षणो मोक्षः। मोक्षावस्था, कर्मणां सर्वथाक्षयरूपिणी वर्तते। सम्पूर्णानां कर्मणां क्षयत्वे सति मोक्षस्य प्राप्तिर्भवति। एतावता मोक्षार्थं सर्वथा कर्मक्षयानिवार्यः। पूर्वं तावत् चतुर्णां घातिकर्मणां क्षयो भवति तदनन्तरम् अर्हद्स्थितिः संजायते। पुरश्च चतुर्णामपि वेदनीयनाम गोत्रायुष्काणां कर्मणां क्षयात् केवलज्ञानम् उत्पद्यते। तस्मिन् समये केवलिनो भगवतः औदारिक शरीरादपि वियोगो भवति। सर्वेषां जन्मकारणानां कर्मणां सर्वथा क्षयात् न पुनर्जन्मकारणं शिष्यते ॥१०-३॥

मोक्षावस्था, जन्ममरणरहिता भवति सर्वथा सम्पूर्णकर्मक्षात्।

※ **सूत्रार्थ** - कृत्स्न-समस्त, कर्मों का क्षय **मोक्ष** कहलाता है।

※ विवेचनामृतम् ※

अष्टकर्मों का सर्वथा क्षय होना मोक्ष कहलाता है। कर्म, आठ प्रकार के होते हैं- चार घाति-ज्ञानावरण, दर्शनावरण मोहनीय तथा अन्तराय के क्षय होने पर अरिहन्त(सर्वज्ञ) अवस्था

प्राप्त हो जाती है किन्तु चार अघाति कर्म-वेदनीय, आयुष्य, नाम और गोत्र- ये शुभ कर्म शेष रह जाते हैं। जब उनके चार अघाति कर्म भी सर्वथा क्षीण हो जाते हैं तब केवली भगवान् का औदारिक शरीर से भी वियोग हो जाता है। कर्मरूपी जन्म हेतु कलाप के नहीं होने पर पुनर्जन्म का सर्वथा अभाव हो जाता है । यह स्थिति मोक्ष की होती है। सकल कर्मों का सर्वथा क्षय मोक्ष कहलाता है। मोक्ष से क्षय जन्म मरण रहितता सिद्ध होती है।

मोक्ष, बन्ध का प्रतिपक्षी होता है। बन्ध हेतुओं का निर्जरा द्वारा सर्वथा आत्यन्तिक क्षय हो जाना ही मोक्ष है। आत्मा, कर्मबन्धनों से सर्वथा मुक्त होकर स्वाभाविक शुद्ध-बुद्ध एवं निरंजन स्थिति में आता है। यही अवस्था मोक्ष या मुक्ति के नाम से शास्त्रों में प्रतिपादित की जाती है। जीव की सर्वथा कर्मरहित शुद्धावस्था ही मोक्ष है।

मोक्ष के स्थिति में पूर्वकर्म तो रहते ही नहीं नवीन कर्मोदय की भी बन्ध कारणों के अभाव में कोई सम्भावना नहीं रहती है।

आत्मा (जीव) मोक्षावस्था में पूर्णरूपेण निर्लेप रहता है। ध्यातव्य है, कि मनुष्य गति ही मोक्ष प्राप्ति का एकमात्र स्वर्णिम अवसर है। मोक्ष की स्थिति में आत्मा शुद्ध,बुद्ध, निर्लेप, निरजंन सवदर्शी, सर्वज्ञ तथा अनन्त चतुष्टय सम्पन्न रहता हुआ आत्मस्वरूप में शाश्वत् सुख का अनुभव करता है।

अन्यच्च औपशमिकाद्यभावादपि मोक्ष प्राप्तिरिति वर्ण्यते -

卐 सूत्रम् -

औपशमिकादिभव्यत्वा + भावाच्चन्यत्र + केवल + सम्यक्त्व ज्ञान-दर्शनसिद्धेभ्यः ॥१०-४॥

卐 सुबोधिका टीका 卐

पूर्वसूत्रे सर्वथा, सर्वकर्मक्षयान्मुक्तिः प्रदर्शिता। एतदतिरिक्तं औपशमिक-क्षायिक-क्षायोपशमिकौदायिक-पारिणामिक + भावनाम् अभावाद् भव्यत्वस्याप्य + भावात् मोक्ष प्राप्ति भर्वतिती ज्ञेयम्। औपशमिकादिभावेषु केवलसम्यक्त्वं केवल ज्ञानं, केवलदर्शनं सिद्धत्वभावोऽपि समागच्छति।

एतेषां चतुर्णां भावानामतिरिक्तम् औपशमिकादि भावा + ना + मभावे सति मुक्तिः =सिद्धि र्भवति। केवलि भगवत्स्त्वपि एते क्षायिकभावाः नित्याःसन्ति। अतएव चैते मुक्तजी + वेष्वपि प्राप्यन्ते।

※ सूत्रार्थ - सर्वकर्मक्षय के अतिरिक्त, औपशमिक-क्षायिक क्षायोपशमिक-औदायिक-पारिणामिक तथा भव्यत्व के अभाव से मोक्ष की प्राप्ति होती है।

❊ विवेचनामृतम् ❊

औपशमिक-आदि भावों के अभाव से मुक्ति प्राप्ति होती है। उसका निर्दश करने के अभिप्राय से नूतन सूत्र- औपशमिक का अवतरण करते हुए उमास्वाती कहते हैं कि-औपशमिक-क्षायिक-क्षायोपशमिक औदायिक पारिणामिक भावों तथा भव्यत्व के अभाव से भी मोक्ष-प्राप्ति होती है।

केवल (क्षायिक) सम्यक्त्व, केवल ज्ञान, केवल दर्शन और सिद्धत्व के अलावा औपशमिक आदि भावों तथा भव्यत्व के अभाव से मोक्षसिद्ध होता है।

समस्त कर्मों के क्षय से मोक्ष होने से सभी कर्मो का अभाव मोक्ष का कारण है। समस्त कर्मों का क्षय होते हुए जीव में औपशमिक आदि भावों का अभाव होता है। इसके कारण औपशमिकादि भावों का अभाव भी मोक्ष का कारण है। सर्वकर्मों का क्षय होने पर औपशमिक, क्षायोपशमिक, औदायिक-इन तीन भावों का सर्वथा अभाव होता है। क्योंकि ये तीनों भाव कर्मजन्य हैं। पारिणामिक, भाव में भव्यत्व का अभाव होता है परन्तु अन्य जीवत्वादि रहते हैं। क्षायिक भाव का अभाव नहीं होता है क्योंकि सम्यक्त्व, केवल ज्ञान, केवल दर्शन सिद्धत्व इत्यादि क्षायिक भावों में रहते हैं।

सूत्र में भव्यत्व शब्द का उल्लेख नहीं है, किन्तु आदि शब्द प्रयोग से भव्यत्व रूप पारिणामिक भाव में केवल भव्यत्व भाव की निवृत्ति होती है। शेषजीवत्वादि भावों की निवृत्ति नहीं होती है। इस अभिप्राय को समझने के लिए आदि पद से भव्यत्व का परिगणन तथा बोध नितान्त आवश्यक एवम् अनिवार्य है।

वस्तुत: केवल (क्षायिक) सम्यत्व, केवल ज्ञान केवल दर्शन और सिद्धत्व (ये क्षायिक भाव सिद्ध में निरन्तर होते हैं अत:) दर्शन सप्तम के क्षय होने से केवल ज्ञान, दर्शनावरण के क्षय होने पर सिद्धत्व प्राप्त होता है। एतदतिरिक्त औपशमिकादि भाव और भव्यत्व का अभाव होने से मोक्ष प्राप्त होता है ॥१०-४॥

सकलकर्मक्षये- औपशमिकादि + भावनानाम + भावान्मोक्षे सम्प्राप्ते सति जीवस्य का गतिरिति जिज्ञासायामाह-

卐 सूत्रम् -

तदनन्तर + मूर्ध्वं गच्छत्यालोकान्तात् ॥१०-५॥

卐 सुबोधिका टीका 卐

तदनन्तरमिति। कृत्स्नकर्मण: क्षयानन्तरं मुक्तो जीव: ऊर्ध्वगमनं करोति। कियद् दूरमिति

प्रश्ने सति- आलोकान्तात् लोकान्तं=संसरान्तं यावदिति। अत्र=सूत्रे तदनन्तर पदेन कृत्नकर्म क्षयानन्तरम् औपशमिकाद्यभावानतरमिति द्वयमपि ग्राह्यम्। यतो हि सम्पूर्णकर्म + क्षयानन्तरं तथा औपशमिकादिभावाऽभावानन्तरं मुक्तो जीवः ऊर्ध्वगमनं करोति। कर्मणां क्षये सति एकस्मिन क्षणे युगपदे च अवस्थात्रयं प्राप्नोति जीवः। यथा च-शरीर वियोगम् सिद्धयमान गतिं लोकान्त प्राप्ति ञ्चेति।

*** सूत्रार्थ** - कृत्स्नकर्म (सम्पूर्णकर्म) के क्षय तथा औपशमिकादि भाव के अभाव के पश्चात् मुक्तजीव लोकान्त पर्यन्त ऊर्ध्वगमन करता है।

* विवेचनामृतम् *

उस सकल कर्मक्षय तथा औपशमिकादिभाव के अभाव के बाद आत्मा ऊँचे लोकान्त तक जाता है। कर्मका क्षय होने पर देह वियोग, सिद्धयमान गति तथा लोकान्त प्राप्ति- ये तीनों एक समय- एक साथ होते हैं।

प्रयोग (वीर्यान्तराय का क्षय अथवा क्षयोपशम जन्य) स्वाभाविक गति, क्रिया विशेष के कार्य, उत्पत्तिकाल, कार्यारम्भ और कारण का विनाश जिस तरह एक साथ होता है, उसी तरह यहाँ भी समझना चाहिए।

विशेष - जिस समय कर्मों का क्षय होता है, उसी समय देह का वियोग, ऊर्ध्वगमन के लिए गति तथा लोकान्त गमन भी होता है। अर्थात् समस्तकर्मक्षय देहवियोग, ऊर्ध्वगति, लोकान्तगमन- ये चार एक ही समय में होते हैं।

लोक के ऊपर के अन्तिम एक गाऊ के अन्तिम छठे विभाग में ३३३ ⅓ मनुष्य प्रमाण विभाग में श्री सिद्ध भगवन्त जीव विराजते है। प्रत्येक श्री सिद्धभगवन्त का मस्तक, अन्तिम प्रदेश का स्पर्श करते रहते हैं। क्योंकि कर्मक्षय होते ही जहाँ जीव होता है, वहीं से सीधी ऊर्ध्वगति करता है किन्तु अलोकाकाश में गति में सहायक धर्मस्तिकाय का अभाव होने से लोकाकाश का अन्तिम प्रदेश आते ही रुक जाता है।

श्री सिद्ध भगवन्तों की अवगाहना अपने पूर्व शरीर की ⅔ भाग की रहती है। चूंकि शरीर में ⅓ भाग जितना खाली स्थान में वायु भरा हुआ है। योग का निरोध होते ही वायु निकल जाने से ⅓ भाग का संकोच हो जाता है। इससे शरीर ⅔ विभाग का रहता है। अधिक से अधिक ५०० धनुष्य की काया वाले जीव मोक्ष में जा सकते हैं। ५०० धनुष्य की काया का ⅔ भाग, ३३३ ⅓ धनुष्य होता है। इसलिए आकाश में ऊपर के अन्तिम प्रदेश से नीचे के ३३३ भाग तक श्री सिद्ध भगवन्त जीव रहते हैं।

आम एक गाउ से छठे विभाग और उतकृष्ट अवगाहना वाला शरीर का ⅔ भाग, ३३३ ⅓ धनुष्य के समान होता है।

आकाश के ऊपरी सिरे से नीचे एक योजन बाद सिद्धशिला (ईषत् प्राग्भारा) नामक पृथ्वी है। जिस प्रकार रत्नप्रभा आदि सात पृथ्वी हैं उसी प्रकार सिद्धशिला भी आठवीं पृथ्वी है। यह पृथ्वी स्फटिक जैसी श्वेत(सफदे) है। ऊपर के भाग में समतल है- वैसे गोलाकार-सी है। उसका विष्कंभ (लम्बाई) ४५ लाख योजन है। वह बराबर मध्य के भाग में आठ योजन मोटी (जाड़ी) है। मध्यभाग के बाद हर तरफ से उसकी मोटाई क्रमश: घटती जाती है। सिरे के भाग में वह पक्षी के पंख से भी पतली है। इसका आकार द्वितीया के चन्द्रमा के समान है।

सिद्धशिला के ऊपरी भाग से सिद्ध जीवों के नीचे अन्तिम भाग तक ३ ५/६ गाऊ का अन्तर है। इसका तात्पर्य यह हुआ कि सिद्धशिला के बाद ३ ५/६ गाऊ ऊपर जाते हुए श्री सिद्ध के जीव आते हैं। ढाई द्वीप में ही जीव मोक्ष पाते हैं। ढाई द्वीप का विष्कंभ ४५ लाख योजन का प्रमाण है।

मुक्त + जीवाना + मूर्ध्वगति + हेतून् विशदयति-

卐 सूत्रम् -

पूर्वप्रयोगा + दसङ्गत्वाद्बन्धच्छेदा + त्तथागति + परिणामाच्च तद्गतिः ॥१०-६॥

卐 सुबोधिका टीका 卐

पूर्वप्रयोगादिति। कर्मनिर्लिप्तस्य मुक्तजीवस्य ऊर्ध्वगमने अनेकहेतवः सन्ति तेषु प्रथमस्तावत्-पूर्व प्रयोगः। कुलाल कृत-प्रयत्न-हस्त-दण्ड-चक्र संयोग प्राप्यं चक्रं तावद् भ्रमति यावत् पूर्वप्रयोगस्य संस्कारः। कुलाल हस्त-दण्डचक्र- संयोगेऽपगतेऽपि चक्रगतिः पूर्वप्रयोगास्तित्वमेव प्रदर्शयति। एवमेव कर्म निमित्तं प्राप्य जीवः संसारे भ्रमति। कर्मसंयोगादेकः संस्कारोऽपि जीवे समागच्छति। कर्मसंयोगा भावेऽपि तत् पूर्वप्रयोग संस्कार वशात् गमनं करोति। अयमेव पूर्व प्रयोगः। अयमेव सिद्धजीवस्य गतौ (गमने) हेतुः।

असङ्गत्वादिति। द्वितीयोऽयं हेतुः। सर्वद्रव्येषु जीवानां पुद्गालानाञ्चैव गतिमत्त्वमङ्गीकृत + मस्ति। सङ्गस्तावत् सम्बन्धः। बाह्य सम्बन्धं प्राप्य द्रव्यस्य स्बभाविरुद्ध + गति + र्भवितुमर्हति, बाह्य संग (सम्बन्ध)- रहिते सति स्वाभाविक गतिरेव भवति। पुद्गलद्रव्यं तावदधोगतिशीलः जीवद्रव्यं तूर्ध्वगतिशील मस्ति। अतएव कर्मसङ्ग निर्मुक्त सिध्यमानगतिरुर्ध्वमेव भवति।

बन्धच्छेदादिति। तृतीयोऽयं हेतुः। बन्धस्य बन्धानां वा छेदः- बन्धच्छेदः। यथा बीज कोशस्य बन्धने स्फुटिते सति एरण्डवीजानानां गतिस्तथैव कर्म बन्धच्छेदाय सिध्यमान + जी + वगति + रप्यर्ध्वं भवतीति ज्ञेयम्।

तथा + गति + परिमाणाच्चेति। चतुर्थोऽयं हेतुः।

ऊर्ध्वगौरवात् पूर्वप्रयोगादिभ्यश्च हेतुभ्यस्तथास्य गति + परिणामो येन सिध्यमानगतिः प्रजायते। सिध्यमानगति रुर्ध्वमेव भवति - न च तिर्यगधो वा कर्मसङ्ग विर्निमुक्तत्वात्। व्यपगते च विरुद्धाकारण संयोगे सिध्यमान + जीव + गति + रुर्ध्वमेव + लोकान्तं यावत् प्रजायते।

धर्मास्तिकायस्य सद्भावो लोकान्तं यावदेव भवति। अतएव लोकान्तं यावदेव मुक्तजीवगति र्भवति न तु ततः परम्। लोकान्तं प्राप्य मुक्तो निष्क्रियो भवति।

४५ लाख योजन से बाहर सिद्ध स्थान में जाने वाला कोई भी नहीं होने के कारण सिद्धजीव के ऊमर ४५ लाख योजन प्रमाण भाग में ही होते हैं। श्री सिद्धशिला का विष्कंभ भी ४५ लाख योजन है। इसके जितने भाग में सिद्धशिला है, उतने ही भाग में श्री सिद्धीशिला ३५/६ गाउ पर श्री सिद्धजीव हैं।

जीव, जिस स्थान में समस्त कर्मों का क्षय करता है उसी स्थान में से सीधा ऊमर जाता है। अर्थात् मोक्ष में जहां एक सिद्ध परमात्मा है। वहीं अनन्त सिद्धभगवन्त मोक्ष में गए हैं। कहीं एकाध स्थान से अनन्त जीव मोक्ष में गए हों- ऐसा नहीं है। ४५ लाख योजन प्रमाण ढाई द्वीप का कोई भाग-ऐसा नहीं है- जहाँ से नीचे के अन्तिम भाग तक ३५/६ गाउ होते हैं। इसलिए सिद्धजीवों और सिद्धशिला के बीच ३५/६ गाउ का अन्तर होता है। इसका तात्पर्य यह है कि सिद्धशिला के पश्चात् ३५/६ गाउ ऊपर जाते हुए श्री सिद्ध जीव आते हैं। ढाईद्वीप का विष्कम्भ ४५ लाख योजन से बाहर सिद्धि में जाने वाला कोई नहीं होने के कारण श्री सिद्ध जीव ४५ लाख योजन प्रमाण भाग में होते हैं। श्री सिद्धशिला का विष्कम्भ भी ४५ लाख योजन ही है। इसके जितने विभाग में सिद्धशिला है, उतने ही विभाग में सिद्धशिला से ३५/६ गाउ पर श्री सिद्धजीव है।

सिद्धशिला पर अनन्त सिद्ध परमात्माओं के होने पर भी कोई संकडापन महसूस नहीं होता है क्योंकि श्री सिद्धपरमात्मा तो अरूपी हैं। जिस प्रकार ज्योति में ज्योति मिल जाती है, वैसे ही सभी श्री सिद्धभगवन्त भी मिल जाते है ॥१०-५॥

*** सूत्रार्थ** - पूर्व प्रयोग, असङ्ग, बन्धच्छेद तथा गति परिणाम इन चार हेतुओं से सर्वकर्मक्षय होने पर आत्मा ऊर्ध्वगति करता है।

* विवेचनामृतम् *

कर्मनिर्लिप्त मुक्तजीव के ऊर्ध्वगमन में अनेक हेतु हैं। उनमें प्रमुख हैं (१) पूर्वप्रयोग (२) असङ्ग (३) बन्धच्छेद (४) गतिपरिणाम.

पूर्वप्रयोग हेतु का तात्पर्य यह है कि जिस प्रकार कुम्भकार अपने हाथ में दण्ड पकड़ कर चाक को चलाता है कुछ देर तक चलाने के पश्चात् भ्रमि उत्पन्न होने पर वह, चाक को घुमाना छोड़ू देता है किन्तु पूर्वकृत प्रयत्न के कारण चक्र (चाक) में भ्रमि बनी रहती है चक्र कुछ देर तक चलता रहता है। वह चक्रगति पूर्वप्रयोग के अस्तित्व को ही प्रदर्शित करती है। इसी प्रकार कर्मनिमित्त को प्राप्त करके जीव संसार में भ्रमण करता है। कर्म के संयोग से एक संस्कार विशेष भी जीव में आता है जिससे कर्मसंयोग के अभाव में भी उस पूर्व प्रयोग के संस्कार के कारण गमन करता है। इसे ही पूर्वप्रयोग कहते है। यह सिद्धजीव (मुक्तजीव) की गतिमें कारण होता है। मुक्तजीव की गतिऊर्ध्व ही होती है।

संग का अर्थ है- सम्बन्ध। सभी द्रव्यों में जीव तथा पुद्गलद्रव्य ही गतिशील है-यह शास्त्र स्वीकृत है। बाह्य सम्बन्ध को प्राप्त करके द्रव्य की स्वभाव विरुद्ध गति होती है।

बाह्यसंग (सम्बन्ध) के अभाव (असङ्ग) में तो स्वाभाविक गति ही होती है। पुद्गल द्रव्य की गति-अधोगति भी होती है किन्तु जीवद्रव्य की स्वाभाविक गति-ऊर्ध्वगति ही है। अत: असङ्ग (कर्मसंयोग के अभाव) में विमुक्त सिध्यमान (कृतकृत्य) जीव की ऊर्ध्वगति होती है।

बन्धच्छेद तृतीय हेतु के रूप में मूलसूत्र में कथित है। उसका आशय यह है कि- बन्ध का या बन्धों का उच्छेद (छेदन) बन्धच्छेद कहलाता है। जैसे-बीज कोश के फूटने पर एरण्ड का बीज उर्ध्वगति करता है उसी प्रकार कर्मबन्ध के उच्छेद होने पर मुक्त जीव (सिध्यमान जीव) ऊर्ध्वगति ही करता है। वैसे भी जीव (आत्मा) की गति भी ऊर्ध्वात्मक ही होती है, अन्य प्रकारक नहीं-ऐसा समझना चाहिए।

तथागति परिणाम चतुर्थ हेतु के रूप मौलिक सूत्र में प्रदर्शित है। उसका अभिप्राय यह है कि ऊर्ध्वगौरव तथा पूर्व प्रयागादि हेतुओं से कर्मविमुक्त जीव की गति का परिणमन-इसी प्रकार होता है, जिसके द्वारा सिध्यमान जीव की ऊर्ध्वगति होती है, नीचे (अधोगति) या तिरछी(तिर्यग्गति) नहीं होती है क्योंकि ऊर्ध्वगौरव, पूर्वप्रयोग परिणाम, असङ्ग तथा बन्धच्छेद-रूप कारणों से ऊर्ध्वगति प्रमाणित है।

विरुद्ध कारण संयोगों के हट जाने पर अर्थात् कर्मकारणों के हटने पर, सिध्यमान जीव लोकान्त तक ऊर्ध्वगति करता है। धर्मास्तिकाय का सद्भाव लोकान्त तक रहता है। अतएव

लोकान्त तक गति करने के पश्चात् मुक्तजीव (सिध्यमान जीव) स्थिर हो जाता है। उसके आगे वह गमन नहीं करता है। लोकान्त तक जाकर मुक्तजीव स्थिर हो जाता है, निष्क्रिय हो जाता है।

* विशेष - प्रश्नोत्तर *

प्रश्न - समस्त कर्मों के क्षय होने पर तिरछी-बाँकी तथा निम्न न होकर ऊर्ध्वगति ही क्यों होती है?

उत्तर - द्रव्य में जीव तथा पुद्गल-इन में द्रव्यों का स्वभाव ही गति करना है। पुद्गल का स्वभाव ऊर्ध्व, अधो तथा तिर्यक् गति करना है। पुद्गल, त्रिधा गति करने में सक्षम है।

जैसे- दीप-ज्योति, अग्नि आदि का ऊर्ध्वगमन स्वभाव है। पवन का स्वभाव तिरछी गति करना स्वभाव है तथा पत्थर आदि का स्वभाव अधोगति करना है किन्तु आत्मा का स्वभाव केवल ऊर्ध्वगति करने का है। ऊर्ध्वगति का स्वभाव हाने के कारण आत्मा, समस्त कर्मक्षय होते ही ऊर्ध्वगति करता है।

प्रश्न - आत्मा का स्वभाव यदि ऊर्ध्वगति करना ही है तो संसारी आत्मा त्रिधा (ऊर्ध्व, अध:, तिर्यक्) गति क्यों करता है?

उत्तर - संसारी आत्मा कर्मों से आबद्ध है। अत: उसको निजकर्मानुसार गति करनी पड़ती है। कर्म-संग (कर्मबन्धन) दूर होते ही आत्मा सीधी ऊर्ध्वगति ही करता है। जैसे-शुष्क तुंबे का स्वभाव जल में डूबने का न होने पर भी यदि उसके ऊपर मिट्टी का अवलेप लगाकर जल में डाला जाये तो वह जल में डूब जाता है किंतु कुछ समय के पश्चात जब जल से मिट्टी का अवलेप घुल जाता है तो वह तुम्बा, जल के ऊपर तैरने लगता है। उसी प्रकार संसारी जीवात्मा के ऊपर कर्मरूपी मिट्टी का अवलेप होने के कारण वह संसाररूपी जल में डूबता है, किन्तु जब कर्म निर्जरा से आत्मा के ऊपर की कर्मरूपी मिट्टी का अवलेप हट जाता है तब वह संसार रूपी जल से ऊपर की ओर गति करता है और लोकान्त में जाकर ठहर जाता है।

समाधान का अन्य प्रकार यह भी है-

जैसे- एरण्ड का फल जब पक जाता है और वह सूख जाता है तब बीजकोश फूटता है, और बीजप्राय: ऊपर की ओर उछलता है। जब तक बीजकोश फूटना नहीं तब तक वह एरण्ड बीज उसके अधीन रहता है किन्तु फूटने पर स्वतन्त्र होते ही ऊर्ध्वगतिशील होता है। ठीक इसी प्रकार संसारी जीव, कर्म से आबद्ध है। कर्म का बन्धन छूटते ही जीव ऊर्ध्वगमन करता है। जीव(आत्मा) की स्वाभाविक गति-ऊर्ध्वगमन ही है।

प्रश्न - जीव की स्वाभाविक गति यदि ऊर्ध्वगति ही है तो वह कर्ममुक्त होकर भी लोकान्त तक ही ऊर्ध्वगति करके क्यों ठहर जाता है, आगे गति क्यों नहीं करता है?

उत्तर - वस्तुत: जीव की ऊर्ध्वगति, स्वाभाविक है। तदनुसार ही वह सकल कर्मक्षय के पश्चात् ऊर्ध्वगति करता हुआ लोकान्त तक पहूँचता है। प्रश्न उठता है कि वह आगे ऊर्ध्वगति क्यों करता है? समाधान-कार्य की सिद्धि सदैव निमित्त कारण पर आश्रित होती है। इसी सिद्धान्त के अनुसार यहाँ तक गमन करने में सहायक बाह्यनिमित्त कारण-धर्मास्तिकाय हैं। लोकान्त तक ही धर्मास्तिकाय का सद्भाव है। आगे अलोक में गति सहायक धर्मास्तिकाय के नहीं होने के कारण सिध्यमान जीव लोकान्त तक अर्ध्वगति करके ठहर जाता है।

जिस प्रकार जल में डूबा हुआ तुम्बा, मिट्टी का लेप घुल जाने से जल के ऊपरी सिरे पर आकर टिकता है। वह उपग्राहक जल के अभाव में, जल के ऊपरी भाग से अधिक ऊपर नहीं जा सकता है। उसी प्रकार अलोक में गति सहायक धर्मास्तिकाय के न होने पर विमुक्त जीव, लोकान्त तक पहुँच कर स्थिर हो जाता है ॥६॥

※ सिद्धविषये विशेष-विचारणा ※

卐 सूत्रम् -

क्षेत्र-काल-गति-लिङ्ग-तीर्थ-चारित्र-प्रत्येकबुद्धबोधित-ज्ञानावगाहनाऽ-न्तर-संख्या-ऽल्प-बहुत्वत: साध्या: ॥७॥

卐 सुबोधिका टीका 卐

क्षेत्रेत्यादय:। सिद्धस्य द्वादशानु + योगद्वाराणि भवन्ति। तानि चेत्थम्-क्षेत्रम्, काल:, गति:, लिङ्गम्, तीर्थ, चारित्रम्, प्रत्येकबुद्धबोधित:, ज्ञानम्, अवगाहना, अन्तरम्, संख्या, अल्पबहुत्वञ्चेत्यादीनि। एतैर्द्वादशानुयोगद्वारे: साध्य: सिद्ध: चिन्तनीयो व्याख्यातव्यश्चेति। तत्र खलु द्वौ नयौ तावत् प्रख्यातौ- पूर्वभाव + प्रज्ञापनीय:, प्रत्युत्पन्न + भाव + प्रज्ञापनीयश्चेति दिक्।

※ सूत्रार्थ - क्षेत्र, काल, गति, लिङ्ग, तीर्थ, चारित्र प्रत्येक बुद्धबोधित, ज्ञान, अवगाहना, अन्तर, संख्या, अल्पबहुत्व-नामक बाहर अनुयोगद्वारों (प्रकारों) से सिद्ध ज्ञातव्य हैं, चिन्तनीय हैं।

※ विवेचनामृत ※

क्षेत्र, काल, गति, लिंग, तीर्थ, चारित्र, प्रत्येक बुद्धबोधित, ज्ञान, अवगाहना, अन्तर, संख्या और अल्प बहुत्व-इन बारह अनुयोग द्वारों से सिद्ध का स्वरूप ज्ञान करना चाहिए।

उसमें पूर्वभाव प्रज्ञापनीय, और प्रत्युत्पन्न भाव प्रज्ञापनीय-इन दो नयों की अपेक्षा से सिद्ध का विचार करते हैं।

वस्तुत: श्रीसिद्ध परमात्मा के आत्मशक्ति की अपेक्षा से समान हैं किन्तु यदि किसी प्रकार की विशेषता का विशेष ध्यान रखकर यदि कोई वर्णन करना हो तो पूर्वोक्त इन द्वादश अनुयोग द्वारों का प्रयोग करना चाहिए। इनका विवेचन इस प्रकार समझना चाहिए -

१. **क्षेत्र** - किस क्षेत्र में सिद्ध होते हैं?

प्रत्युत्पन्नभाव प्रज्ञापनीय के आश्रय से सिद्धक्षेत्र में सिद्ध होते हैं। पूर्वभाव प्रज्ञापनीय नय की अपेक्षा से जन्म की विवक्षा से सिद्ध होता है तथा संहरण के अपेक्षा से मनुष्य क्षेत्र-स्थितिवाले सिद्ध होते हैं।

उनमें प्रमत्त, संयत और देश विरत का संहरण होता है, साध्वी, वेदरहित परिवार-विशुद्धि चरित्रवाला-पुलाक चारित्री अप्रमत्त संयत-पूर्वधर और आहरक शरीर-इनका संहरण नहीं होता है। ऋजुसूत्र और शब्दादि तीन नय पूर्वभाव को ज्ञान करवाते हैं और बाकी के नैगमादि तीन नय पूर्वभाव तथा वर्तमान भाव-इन दोनों को ज्ञात करवाते हैं।

२. **काल** - किस काल में सिद्ध होते हैं?

यहाँ भी दो नयों की अपेक्षा से विचार करना आवश्यक है। प्रत्युत्पन्नभाव प्रज्ञापनीय नय की विवक्षा से काल के अभाव में सिद्ध होते हैं क्योकि सिद्धक्षेत्र में काल का अभाव है।

पूर्वभाव प्रज्ञापनीय नय की विवक्षा से जन्म और संहरण की अपेक्षा से विचार करना है। जन्म से सामान्यरीति से अवसर्पिणी और उत्सर्पिणी में या नो उत्सर्पिणी काल (महाविदेह क्षेत्र में है) और विशेष से अवसर्पिणी में सुषम, दु:षम-आरे के संख्यात वर्ष बाकी रहे तब जन्म लेने वाला सिद्धपद प्राप्त करता है। दु:षम-सुषमा नाम के चौथे आरे में उत्पन्न वह चौथे तथा दुषमा नामके पाँचवे आरे में मोक्ष जाता है। लेकिन पाँचवे आरे में जन्मा हुआ मोक्ष प्राप्त नहीं करता है।

संहरण के आश्रय से सब काल में अवसर्पिणी-उत्सर्पिणी और जो उत्सर्पिणी अवसर्पिणी काल में मोक्ष को प्राप्त करता है।

३. **गति** - प्रत्युत्पन्नभाव प्रज्ञापनीय नय की विवक्षा में सिद्धगति में सिद्ध होता है। पूर्वभाव प्रज्ञापनीय नय के दो प्रकार हैं। अनन्तर-पश्चात् कृतगतिक=अन्यगति के अन्तर रहित और एकान्तर पश्चपात् कृतगतिक (एक मनुष्य गति के अन्तरवाला) अनन्तर पश्चात् कृत गतिक नय की विवक्षा से मनुष्य गति में उत्पन्न मोक्ष जाता है। प्रकारान्तर पश्चात् कृगतिक नय की अपेक्षा से सब गतियों से आगत सिद्ध पद को प्राप्त करता है।

४. **लिङ्ग** - लिङ्ग की अपेक्षा से अन्य विकल्पों के तीन प्रकार हैं-

१. द्रव्यलिङ्ग २. भावलिङ्ग ३. अलिङ्ग

प्रत्युत्पन्न भाव की अपेक्षा से लिंग रहित सिद्ध होता है। पूर्वभाव की अपेक्षा से भावलिङ्गी (भावचारित्री), स्वलिङ्ग से (साधुवेष) सिद्ध होता है।

द्रव्यलिङ्ग के तीन प्रकार हैं-

१. स्वलिङ्ग २. अन्यलिङ्ग तथा गृहीलिङ्ग - ये सब भावलिङ्ग को प्राप्त कर मोक्ष प्राप्त करतें हैं।

५. **तीर्थ** - श्री तीर्थकर परमात्मा के तीर्थ में तीर्थङकर सिद्ध होते हैं। तीथङरत्व का अनुभव करने के पश्चात् मोक्ष प्राप्त करने वाले तीर्थङकर प्रत्येक बुद्ध होकर सिद्ध होते हैं तथा तीर्थकर साधु होकर सिद्ध होते हैं। इस प्रकार तीर्थङ्कर के तीर्थ में भी पूर्वोक्त भेदयुक्त सिद्ध होते हैं।

६. **चारित्र** - चारित्री प्रत्युत्पन्न भाव की अपेक्षाओं से नो चारित्री, नो अचारित्री सिद्ध होते हैं।

पूर्वभाव प्रज्ञापनीय के दो भेद हैं-

१. **अनन्तर** - पश्चात् कृतिक २. **परंपर** - पश्चात् कृतिक।

अनन्तर पश्चात् कृतिक (जिसे किसी चारित्र का अन्तर न हो- ऐसा) नय की अपेक्षा से यथाख्यात चारित्री सिद्ध होता है।

परम्पर पश्चात् कृतिक (अन्य चारित्र से सान्तर) तप के व्यंजित और अव्यंजित- ये भेद हैं।

अव्यंजित सामान्यत: संख्या मात्र से कहे हुए तथा व्यंजित विशेष नाम द्वारा कथित। अव्यंजित की अपेक्षा से तीन चारित्र वाले, चार चारित्र वाले तथा पाँच चारित्र वाले सिद्ध होते हैं। व्यंजित नय की अपेक्षा से सामायिक सूक्ष्म सम्पराय और यथाख्यात चारित्र वाले सिद्ध होते हैं। अथवा सामायिक, छेदोपसथापनीय सूक्ष्मसम्पराय और यथाख्यात चारित्र वाले सिद्ध होते हैं।

अथवा- छेदोपस्थापनीय, परिहार विशुद्धि, सूक्ष्मसंपराय और यथाख्यात चारित्र वाले सिद्ध होते हैं।

७. प्रत्येक बुद्ध बोधित - स्वयं बुद्ध के दो भेद हैं- १. तीर्थकर- प्रत्येक बुद्धसिद्ध २. बुद्धबोधित सिद्ध- के दो प्रकार पर बोधक और आत्महितसाधक-इस प्रकार से प्रत्येक बुद्धसिद्ध के चार प्रकार होते हैं।

८. **ज्ञान** - प्रत्युत्पन्न भाव नय की अपेक्षा से केवली सिद्ध होते हैं। पूर्वभाव प्रज्ञापनीय के अनन्तर पश्चात् कृतिक होते हैं। पूर्वभाव प्रज्ञापनीय के अनन्तर पश्चात् कृतिक और परंपर पश्चातकृतिक ये दो प्रकार हैं। दोनों के व्यंजित और अव्यंजित दो-दो प्रकार हैं। उसमें अव्यंजित में दो-तीन-चार ज्ञान से सिद्ध होते हैं, और व्यंजित में मति-श्रुत से मति-श्रुत-अवधि से मति-मन: पर्याय से मति- श्रुत-अवधि मन:पर्याय से सिद्ध होते हैं। वर्तमान में सभी सिद्ध केवल ज्ञान के ही धारक हैं। उनकी सिद्धि केवल ज्ञान प्रकारक ही वर्णित है किन्तु चार क्षायो + पशमिक ज्ञानों में यथासम्भव ज्ञानों के धारक भी सिद्धीप्राप्त करते हैं। क्षायोपशमिक ज्ञान, एककाल में एक जीव के सन्दर्भ में एक से लेकर चार तक प्राप्त हुआ करते हैं।

९. **अवगाहना** - शरीर प्रमाण जितने स्थान को घेरता है, उसे अवगाहना कहते हैं। उत्कृष्ट एवं जघन्य के भेद से अवगाहना दो प्रकार की होती है। उत्कृष्ट अवगाहना का प्रमाण पाँच सौ धनुष से पृथक्त्व धनुष अधिक माना गया है तथा जघन्य अवगाहना का प्रमाण सात रत्नि में से पृथकत्व अंगुल कम माना गया है।

पूर्वप्रज्ञापनीयनय की विवक्षा से जीव, जिस शरीर प्रमाण से सिद्ध पद प्राप्त करता है, वही उसकी सिद्धि की अवगाहना का भी प्रमाण रहता है क्योंकि जीव की अवगाहना शरीर के प्रमाण के

अनुसार ही होती है । जीव, स्वशरीर प्रमाणी स्वीकृत है किन्तु सिद्धावस्था में शरीर रहित स्थिति होने के कारण आत्मा की अवगहना त्रिभागहीन हो जाती है। सिद्धि (सिद्धावस्था) प्राप्ति के समय जो शरीर प्रमाण है उसका तृतीयांश कम करने पर जो अवगाहना प्रमाण शेष रहता है, वह सिद्धावस्था में विद्यमान रहता है-प्रत्युत्पन्ननय की अपेक्षा से सिद्धों की अवगाहना का यही प्रमाण है।

जघन्य अवगाहना वाले सिद्ध सबसे कम, उससे उत्कृष्ट अवगाहना वाले संख्यातगुण, उससे यवमध्य सिद्ध असंख्यातगुण, उससे यवमध्य के ऊपर के सिद्ध असंख्यातगुण, उससे यवमध्य के अधस्तात् सिद्ध विशेषाधिक तथा उससे भी विशेषाधिक सर्वसिद्ध है- ऐसा जानना चाहिए।

१०. **अन्तर** - एक समय में जीवों के सिद्धि प्राप्त कर लेने के पश्चात् (तत् समयान्तर) जो जीव सिद्धि प्राप्त करते है- उसे अनन्तर सिद्धि कहते हैं। इसका प्रमाण दो समय से आठ समय तक है।

निरन्तर आठ समय तक सबसे कम सिद्ध हुए हैं। उससे निरन्तर सात व छह समय तक बहुत सिद्ध हुए। यावत् निरन्तर दो समय तक संख्यातगुण सिद्ध हुए। षण्मासांतरित सिद्ध हुए सबसे कम, एक समयानतरित सिद्ध हुए- संख्यात गुण, यवमध्य के अंतरित सिद्ध हुए-असंख्यात गुण। उपरि यवमध्यांतरित विशेषाधिक और उससे सर्वसिद्ध विशेषाधिक हुए हैं- ऐसा जानना चाहिए।

११. **संख्या** - प्रत्येक समय में अधिक से अधिक या कम से कम कितने जीव सिद्धि प्राप्त करते हैं उसका परिमाण परिगणन को ही संख्या कहते हैं। एक समय में सिद्धि(मोक्ष) प्राप्त करने वाले जीव जघन्य प्रमाण की दृष्टि से एक तथा उत्कृष्ट प्रमाण से १०८ सिद्ध हुए हैं। उससे अल्प १०६ यावत् ५० सिद्ध हुए अनन्त गुण, ४९ से लेकर १५ सिद्ध हुए असंख्यात गुण तथा २४ से लेकर १ (एक) तक सिद्ध हुए संख्यात गुण- इतना ध्यातव्य है।

१२. **अल्पबहुत्व** - अल्प-बहुत्व-न्यूनाधिकता का द्योतक है। प्रत्येक अनुयोग के अवान्तर भेदों के द्वारा सिद्ध जीवों का अल्प-बहुत्व समझना चहिए।

क्षेत्र सिद्धों में जन्मसिद्ध एवं संहरणसिद्ध नामक सिद्ध होते हैं। इनमें कर्मभूमि सिद्ध और अकर्म भूमि सिद्ध है, उनका प्रमाण सबसे कम है किन्तु संहरण सिद्धों का प्रमाण और भी कम है। जन्म सिद्धों का प्रमाण उनका असंख्यात गुणा है। सहंरण दो प्रकार के है- १. परकृत एवम् २. स्वयंकृत।

संहरण-गमन-परकृत देव, चारणमुनि और विद्याधरों ने किया है। कर्मभूमि-अकर्मभूमि-द्विप समुद्र-अधो-तिर्यग् लोकक्षेत्रों के भेद हैं। उसमें सबसे कम ऊर्ध्वलोक में से और उससे संख्यातगुण अधोलोक में से और उससे संख्यातगुणा तिर्यगलोक में से सिद्ध होते है। सबसे कम समुद्र में से और उससे संख्यातगुणा द्वीप में से सिद्ध होते हैं। यह सामान्यत: कहा गया है। विशेषत: गुणा द्वीप में से सिद्ध होते है।

सबके थोड़े लवण समुद्र में से, उसमें कालोदधि में से संख्यातगुणा और उससे जम्बूदीप में से संख्यातगुणा, उससे घातकी खण्ड में से संख्यातगुणाा और उससे जंबूदीप में से संख्यातगुणा उससे पुष्करार्धद्विप में से संख्यातगुणा मोक्ष में गए हुए हैं।

काल तीन प्रकार के होते हैं -

१. अवसर्पिणी २. उत्सर्पिणी तथा ३. अनवसर्पिणी

उत्सर्पिणी। यहाँ सिद्ध के व्यञ्जित-अव्यञ्जित भेद का विचार भी करना होता है। पूर्वभाव की अपेक्षा से सबसे कम उत्सर्पिणी सिद्ध, उससे विशेषाधिक अवसर्पिणी सिद्ध और उससे अवसर्पिणी उत्सर्पिणी सिद्ध संख्यातगुणा होते है- ऐसा ध्यातव्य है।

वर्तमान भाव की अपेक्षा से कालाभाव में सिद्ध होते है क्योंकि अल्प-बहुत्व नहीं है। गति वर्तमान काल की अपेक्षा से सिद्धगति में सिद्ध होते है क्योंकि अल्प-बहुत्व नहीं हैं। अन्तर विना पूर्वभाव की अपेक्षा की विवक्षा से वितंच गति में से मनुष्य गति में आकर मोक्ष में जाने वाले सबसे अल्प है। इसकी अपेक्षा मनुष्य से पुन: मनुष्य जन्म प्राप्त करके मोक्ष में जाने वाले संख्यात गुण हैं। नरकगति से मनुष्य गति में आकर मोक्ष जाने वाले संख्यातगुण हैं और उससे देवगति में से आकर मोक्ष जाने वाले संख्यात गुणा हैं।

लिंग - वर्तमान भाव की अपेक्षा से अवेदी सिद्ध होता है क्योंकि अल्प बहुत्व नहीं है। पूर्वभाव की अपेक्षा से नपुंसक लिङ्गी सिद्ध सबसे अल्प हैं। उससे स्त्रीलिङ्ग संख्यातगुणा है और उससे पुल्लिंग सिद्ध संख्यात गुणा हैं।

तीर्थ - तीर्थसिद्ध सबसे अल्प, तीर्थकर,उससे संख्यातगुण अजिन सिद्ध ज्ञातव्य है। तीर्थ में सिद्ध कम हुए हैं-नपुंसक, उससे स्त्रीसंख्यात गुणा और उसकी अपेक्षा पुरुष संख्यात गुण होते हैं।

चारित्र - वर्तमान भाव की अपेक्षा से सिद्ध तो चारित्री नो अचारित्री क्योंकि अल्प-बहुत्व नहीं हैं। पूर्वभाव की अपेक्षा से, सामान्यत पाँचों चारित्र वाले सिद्ध सबसे अल्प हैं। उससे चार चारित्र वाले संख्यात गुण,उससे तीन चारित्र वाले संख्यातगुण समझने चाहिए।

विशेषत:- सबसे अल्प सामायिक आदिवाले, उससे सामायिक के अलावा चार वाले संख्यातगुणा, उससे विशुद्धिवाले, चार संख्यातगुण, उससे छेदोप + स्थापनीय सिवाय चार वाले संख्यात गुण। उससे सूक्ष्म संपराय- यथाख्यात-ये तीन चारित्र वाले सिद्ध संख्यात गुण और उससे छेदोपस्थापनीय, सूक्ष्मसंपराय यथाख्यात-ये तीन वाले संख्यात गुणा समझने चाहिए।

प्रत्येक बुद्ध बोधित-प्रत्येक बुद्ध सिद्ध सबसे अल्प, उससे बुद्धबोधित नपुंसकसिद्ध संख्यातगुण और स्त्रीसिद्ध संख्या गुण और पुरुषासिद्ध भी संख्यात गुण हैं- ऐसा समझना चाहिए।

* प्रश्नोत्तर *

प्रश्न - सिद्धों के कितने भेद हैं?

उत्तर - जैनागम मान्यता के अनुसार सिद्धों के पन्द्रह भेद हैं-
१. तीर्थसिद्ध २. अतीर्थ सिद्ध ३. तीर्थङ्कर ४. अतीर्थङ्कर सिद्ध ५. स्वयं बुद्ध सिद्ध ६. प्रत्येक बुद्ध सिद्ध ७. बुद्धबोधित सिद्ध ८. स्त्रीलिङ्ग सिद्ध ९. पुरुषलिङ्ग सिद्ध १०. नपुंसकलिङ्ग सिद्ध ११. स्वलिङ्ग सिद्ध १२. अन्यलिङ्ग सिद्ध १३. गृहलिङ्ग सिद्ध १४. एक सिद्ध १५. अनेक सिद्ध

प्रश्न - तीर्थंकर सिद्ध किसे कहते हैं?

उत्तर - तीर्थङ्कर के संघ संस्थापन करने के अथवा प्रथम गणधर के उत्पन्न होने के बाद, जो सिद्ध हुए है, उन्हें तीर्थसिद्ध कहते हैं। जैसे- प्रथम गणधर ऋषभसेन और गौतमस्वामी आदि।

प्रश्न - अतीर्थ सिद्ध किसे कहते है?

उत्तर - तीर्थ (संघ) के उत्पन्न न होने पर अथवा बीच में तीर्थ का विच्छेद होने पर जो सिद्ध हुए हैं उन्हें अतीर्थ सिद्ध कहते हैं जैसे- मरुदेवी।

प्रश्न - तीर्थंकर सिद्ध किसे कहते हैं?

उत्तर - जो तीर्थङ्कर होकर अर्थात् साधु-साध्वी श्रावक, श्राविका रूपी चार तीर्थों की स्थापना करके सिद्ध हुए हैं, उन्हें तीर्थंकर सिद्ध कहते हैं। जैसे-चौबीस तीर्थंकर भगवान्।

प्रश्न - अतीर्थङ्कर सिद्ध किसे कहते हैं?

उत्तर - जो सामान्य केवली होकर सिद्ध हुए है, उन्हें अतीर्थङ्कर सिद्ध कहते हैं। जैसे गौतम स्वामी।

प्रश्न - स्वयंबुद्ध सिद्ध किसे कहते हैं?

उत्तर - जो स्वयं जाति स्मरणादि ज्ञान से तत्त्वज्ञान कर सिद्ध हुए हैं उन्हे स्वयं बुद्ध सिद्ध कहते हैं। जैसे-मृगा पुत्र आदि।

प्रश्न - प्रत्येक बुद्ध सिद्ध किसे कहते हैं?

उत्तर - जो बाह्य निमित्त वृषभादि को देखकर बोध प्राप्त करके सिद्ध हुए हैं, उन्हें प्रत्येक बुद्ध सिद्ध कहते हैं। जैसे करकण्डू आदि।

प्रश्न - बुद्धबोधित सिद्ध किसे कहते हैं?

उत्तर - जो धर्माचार्यों से बोध प्राप्त करके सिद्ध हुए हैं, उन्हें बुद्धबोधित सिद्ध कहते हैं। जैसे- मेघकुमार आदि।

प्रश्न - स्त्रीलिङ्ग सिद्ध किसे कहते हैं?

उत्तर - जो स्त्रीशरीर से सिद्ध हुए है, उन्हें स्त्रीलिङ्ग सिद्ध कहते हैं। जैसे- चन्दनवाला।

प्रश्न - पुरुष लिङ्ग सिद्ध किसे कहते हैं?

उत्तर - जो पुरुष शरीर से सिद्ध हुए हैं, उन्हें पुरुषलिङ्ग सिद्ध कहते हैं। जैसे-गणधर आदि।

प्रश्न - नपुंसकलिङ्ग सिद्ध किसे कहतें है?

उत्तर - जो नपुंसक शरीर से सिद्ध हुए हैं, उन्हें नपुंसक लिङ्ग सिद्ध कहते हैं। जैसे- गाङ्गेय अनगार आदि।

प्रश्न - स्वलिङ्ग सिद्ध किसे कहते हैं?

उत्तर - जो मुनिवेष (रजोहरणादि धारक) से सिद्ध हुए है उन्हें स्वलिङ्ग सिद्ध कहते हैं। जैसे- आदिनाथ भगवान् के साथ दस हजार मुनि सिद्ध हुए।

प्रश्न - अन्य लिङ्ग सिद्ध किसे कहते हैं?

उत्तर - जो अन्यमत (संन्यासी आदि) के लिंग से सिद्ध हुए है उन्हें अन्यलिङ्ग सिद्ध कहते हैं। जैसे- शिवराज ऋषि।

प्रश्न - गृहिलिङ्ग सिद्ध किसे कहते हैं?

उत्तर - जो गृहस्थ के लिङ्ग से सिद्ध हुए हैं, उन्हें गृहिलिङ्ग सिद्ध कहते हैं। जैस- सुमति के छोटे भाई नागिल आदि।

प्रश्न - एक सिद्ध किसे कहते है?

उत्तर - जो एक समय में अकेले सिद्ध हुए हों, उन्हें एक सिद्ध कहते हैं। जैसे-महावीर स्वामी।

प्रश्न - अनेक सिद्ध किसे कहते है?

उत्तर - जो एक समय में दो यावत् १०८ तक सिद्ध हुए हैं, उन्हें अनेक सिद्ध कहते हैं। जैसे- ऋषभदेव भगवान्।

卐

卐 ॐ ह्रीं अर्हते नमः 卐

卐 श्रीतत्त्वार्थाधिगमसूत्रम् 卐

दशवें अध्याय का हिन्दी पद्यानुवाद

❊ मोक्ष स्परूप ❊

सुत्राणि-मोहक्षयाज्ज्ञानदर्शनावराणन्तरायक्षायाच्च केवलम्॥१॥

बन्धहेत्वभाव + निर्जराभ्याम्॥२॥

कृत्स्न + कर्मक्षयो मोक्षः॥३॥

औपशमिकादिभव्यत्वाभावाच्चान्यत्र + केवल + सम्यक्त्व + ज्ञानदर्शन + सिद्धत्वेभ्यः॥४॥

तदनन्तर + मूर्ध्वं गच्छत्यालोकान्तात्॥५॥

पूर्वप्रयोगादसङ्गत्वाद्बन्धच्छेदातथागति परिणामाच्च तद्गतिः॥६॥

क्षेत्र-कालगति + लिङ्गतीर्थ + चारित्र + प्रत्येक + बुद्ध + बोधित + ज्ञानावगाहनान्तर संख्याल्पबहुत्वतः साध्याः॥७॥

❊ हिन्दी पद्यानुवाद -

मोहनीयादि चारों घातिकर्म के क्षय होतें,
ज्ञान और दर्शन सम्बन्धी, आवरण भी क्षय होते।
अन्तराय घातिकर्म, सब नष्ट हो तक केवली,
सर्वज्ञता को धारते हैं, वस्तुकलना संवीकली॥

बन्ध हेतु के अभावी, निर्जरा के प्रयोग से,
योग से सब कर्म का क्षय, मोक्ष है कहते उसे।
उपशमादि भव्यतादिक भाव की अभावता,
समकित केवल ज्ञान दर्शन प्रकट प्रगटे सिद्धता॥

कर्मक्षय से एक ही क्षण, लोक के क्षितिजान्त भी,
पूर्वप्रयोग औ संगरहित बंधच्छेदन भाव में,
गतित्व के परिणाम द्वारा, सिद्धगति तत्काल में॥

क्षेत्र काल गति लिंग तीर्थ चरण द्वार में,
प्रत्येक बुद्ध ज्ञान के संग, अवगाह सुविचार में।
अन्तर संख्या अल्पबहुता, द्वार बारह जानिये,
सिद्धपद में अवतरण से, मोक्ष द्वार प्रवेशिये॥

तत्त्वार्थाधिगम सूत्र की पद्यानुवाद विवेचना,
है रची लय छन्द हिन्दी गीतिका में बोधना।
अध्याय दसवाँ पूर्ण है, मोक्ष की सुविवेचना,
सुशील शील मोक्ष हेतु त्रिरत्नकर आराधना॥

॥इति तत्त्वार्थाधिशगम सूत्र के दशवें अध्याय का पद्यानुवाद॥

॥समाप्त॥

सुकृत के सहयोगी

श्री पिण्डवाड़ा जैन संघ समस्त

C/o शेठ कल्याणजी सोभागचंदजी जैन पेढ़ी

मु.पो. पिण्डवाडा, जिला-सिरोही (राज.)

श्री सुपार्श्वनाथ जैन श्वेताम्बर मूर्तिपूजक संघ

चोकी पेठ, पो.दावणगेरे (कर्नाटक)

कार्यालय

श्री सुशील-साहित्य प्रकाशन समिति

संघवी श्री गुणदयालचंदजी भंडारी

राइका बाग, पुरानी पुलिस लाइन के पास, पो.जोधपुर-342 006 (राज.)

☎ 0291-2511829, 2510621